समदर्शी आचार्य हरिभद्र

आचार्य हरिभद्र जैनधर्म के प्रखर प्रतिभासम्पन्न एवं बहुश्रुत आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा विपुल एवं बहुआयामी साहित्य का सृजन किया है। उन्होंने दर्शन, धर्म, योग, आचार, उपदेश, व्यंग्य और चरित-काव्य आदि विविध विधाओं के ग्रन्थों की रचना की है। मौलिक साहित्य के साथ-साथ उनका टीका-साहित्य भी विपुल है। जैन धर्म में योग सम्बन्धी साहित्य के तो वे आदि प्रणेता हैं। इसी प्रकार आगमिक ग्रन्थों की संस्कृत भाषा में टीका करने वाले जैन-परम्परा में वे प्रथम टीकाकार भी हैं। उनके पूर्व तक आगमों पर जो निर्युक्ति और भाष्य लिखे गये थे वे मूलत: प्राकृत भाषा में ही थे। भाष्यों पर आगमिक व्यवस्था के रूप में जो चूर्णियाँ लिखी गयी थीं वे भी संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा में लिखी गयीं। विशुद्ध संस्कृत भाषा में आगमिक ग्रन्थों की टीका लेखन का सूत्रपात तो हरिभद्र ने ही किया। भाषा की दृष्टि से उनके ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में मिलते हैं। अनुश्रुति तो यह है कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी किन्तु वर्तमान में हमें उनके नाम चढ़े पर हुए लगभग ७५ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यद्यपि विद्वानों की यह मान्यता है कि इनमें से कुछ ग्रन्थ वस्तुत: याकिनीसूनु हरिभद्र की कृति न होकर किन्हीं दूसरे हरिभद्र नामक आचार्यों की कृतियाँ हैं। पंडित सुखलालजी ने इनमें से लगभग ४५ ग्रन्थों को तो निर्विवाद रूप से उनकी कृति स्वीकार किया है क्योंकि इनमें 'भव-विरह' ऐसे उपनाम का प्रयोग उपलब्ध है। इनमें भी यदि हम अष्टक-प्रकरण के प्रत्येक अष्टक को, षोडशकप्रकरण के प्रत्येक षोडशक को, विंशिकाओं में प्रत्येक विंशिका को तथा पञ्चाशक में प्रत्येक पञ्चाशक को स्वतन्त्र ग्रन्थ मान लें तो यह संख्या लगभग २०० के समीप पहुँच जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य हरिभद्र एक प्रखर प्रतिभा के धनी आचार्य थे और साहित्य की प्रत्येक विधा को उन्होंने अपनी रचनाओं से समृद्ध किया था।

प्रतिभाशाली और विद्वान् होना वस्तुत: तभी सार्थक होता है जब व्यक्ति में सत्यनिष्ठा और सहिष्णुता हो। आचार्य हरिभद्र उस युग के विचारक हैं जब भारतीय चिन्तन में और विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में वाक्-छल और खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति बलवती बन गयी थी। प्रत्येक दार्शनिक स्वपक्ष के मण्डन एवं परपक्ष के खण्डन में ही अपना बुद्धिकौशल मान रहा था। मात्र यही नहीं, दर्शन के साथ-साथ धर्म के क्षेत्र में भी पारस्परिक विद्वेष और घृणा अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। स्वयं आचार्य हरिभद्र को भी इस विद्वेष-भावना के कारण अपने दो शिष्यों की बलि देनी पड़ी थी। हरिभद्र की महानता और धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में उनके अवदान का सम्यक् मूल्यांकन तो उनके युग की इन विषम परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। आचार्य हरिभद्र की महानता तो इसी में निहित है कि उन्होंने शुष्क वाग्जाल तथा घृणा एवं विद्वेष की उन विषम परिस्थितियों में भी समभाव, सत्यनिष्ठा, उदारता, समन्वयशीलता और सहिष्णुता का परिचय दिया। यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि समन्वयशीलता और उदारता के गुण उन्हें जैन-दर्शन की अनेकान्त दृष्टि के रूप में विरासत में मिले थे, फिर भी उन्होंने अपने जीवन-व्यवहार और साहित्य-सृजन में इन गुणों को जिस शालीनता के साथ आत्मसात् किया था वैसे उदाहरण स्वयं जैन-परम्परा में भी विरल ही हैं।

आचार्य हरिभद्र का अवदान धर्म-दर्शन, साहित्य और समाज के क्षेत्र में कितना महत्त्वपूर्ण है इसकी चर्चा करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम उनके जीवनवृत्त और युगीन परिवेश के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से चर्चा कर लें।

जीवनवृत्त

यद्यपि आचार्य हरिभद्र ने उदार दृष्टि से विपुल साहित्य का सृजन किया, किन्तु अपने सम्बन्ध में जानकारी देने के सम्बन्ध में वे अनुदार या संकोची ही रहे। प्राचीन काल के अन्य आचार्यों के समान ही उन्होंने भी अपने सम्बन्ध में स्वयं कहीं कुछ नहीं लिखा। उन्होंने ग्रन्थ-प्रशस्तियों में जो कुछ संकेत दिए हैं उनसे मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि वे जैन धर्म की श्वेताम्बर शाखा के 'विद्याधर कुल' से सम्बन्धित थे। इन्हें महत्तरा याकिनी नामक साध्वी की प्रेरणा से जैनधर्म का बोध प्राप्त हुआ था, अत: उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में अपने आपको 'याकिनीसूनु' के रूप में प्रस्तुत किया है, साथ ही अपने ग्रन्थों में अपने उपनाम 'भवविरह' का संकेत किया है। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि ने भी इनका इसी उपनाम के साथ स्मरण किया है। जिन ग्रन्थों में इन्होंने अपने इस 'भवविरह' उपनाम का संकेत किया है वे ग्रन्थ निम्न हैं -

अष्टक, षोडशक, पञ्चाशक, धर्मबिन्दु, ललितविस्तरा, शास्त्रवार्तासमुच्चय, पञ्चवस्तुटीका, अनेकान्तजयपताका, योगबिन्दु, संसारदावानलस्तुति, उपदेशपद, धर्मसंग्रहणी और सम्बोध-प्रकरण। हरिभद्र के सम्बन्ध में उनके इन ग्रन्थों से इससे अधिक या विशेष सूचना उपलब्ध नहीं होती।

आचार्य हरिभद्र के जीवन के विषय में उल्लेख करने वाला सबसे प्राचीन ग्रन्थ भद्रेश्वर की कहावली है। इस ग्रन्थ में उनके जन्म-स्थान का नाम बंभपुनी उल्लिखित है किन्तु अन्य ग्रन्थों में उनका जन्मस्थान चित्तौड़ (चित्रकूट) माना गया है। सम्भावना है कि ब्रह्मपुरी चित्तौड़ का कोई उपनगर या कस्बा रहा होगा। कहावली के अनुसार इनके पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गंगा था। पं० सुखलाल जी का कथन है कि पिता के नाम के साथ भट्ट शब्द सूचित करता है कि वे जाति से ब्राह्मण थे। ब्रह्मपुरी में उनका निवास भी उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मण होने के अनुमान की पुष्टि करता है। गणधरसार्धशतक और अन्य ग्रन्थों में उन्हें स्पष्टरूप से ब्राह्मण कहा गया है। धर्म और दर्शन की अन्य परम्पराओं के सन्दर्भ में उनके ज्ञान-गाम्भीर्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उनका जन्म और शिक्षा-दीक्षा ब्राह्मण कुल में ही हुई होगी।

कहा यह जाता है कि उन्हें अपने पाण्डित्य पर गर्व था और अपनी विद्वत्ता के इस अभिमान में आकर ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जिसका कहा हुआ समझ नही पाऊँगा उसी का शिष्य हो जाऊँगा। जैन अनुश्रुतियों में यह माना जाता है कि एक बार वे जब रात्रि में अपने घर लौट रहे थे तब उन्होंने एक वृद्धा साध्वी के मुख से प्राकृत की निम्न गाथा सुनी जिसका अर्थ वे नहीं समझ सके

चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्की केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ ।।

- आवश्यकनिर्युक्ति, ४२१

अपनी जिज्ञासुवृत्ति के कारण वे उस गाथा का अर्थ जानने के लिए साध्वीजी के पास गये। साध्वीजी ने उन्हें अपने गुरु आचार्य जिनदत्तसूरि के पास भेज दिया। आचार्य जिनदत्तसूरि ने उन्हें धर्म के दो भेद बताए - (१) सकामधर्म और (२) निष्कामधर्म। साथ ही यह भी बताया कि निष्काम या निस्पृह धर्म का पालन करने वाला ही 'भवविरह' अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। ऐसा लगता है कि प्राकृत भाषा और उसकी विपुल साहित्य-सम्पदा ने आचार्य हरिभद्र को जैन-धर्म के प्रति आकर्षित किया हो और आचार्य द्वारा यह बताए जाने पर कि जैन-साहित्य के तलस्पर्शी अध्ययन के लिये जैन मुनि की दीक्षा अपेक्षित है, अत: वे उसमें दीक्षित हो गए। वस्तुत: एक राजपुरोहित के घर में जन्म लेने के कारण वे संस्कृत व्याकरण, साहित्य, वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, दर्शन और ज्योतिष के ज्ञाता तो थे ही, जैन-परम्परा से जुड़ने पर उन्होंने जैन-साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया। मात्र यही नहीं, उन्होंने अपने इस अध्ययन को पूर्व अध्ययन से परिपुष्ट और समन्वित भी किया। उनके ग्रन्थ योगसमुच्चय, योगदृष्टि, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि उन्होंने अपनी पारिवारिक परम्परा से प्राप्त ज्ञान और जैन-परम्परा में दीक्षित होकर अर्जित किए ज्ञान को एक दूसरे का पूरक बनाकर ही इन ग्रन्थों की रचना की है। हरिभद्र को जैनधर्म की ओर आकर्षित करने वाली जैन साध्वी महत्तरा याकिनी थी, अत: अपना धर्म-ऋण चुकाने के लिये उन्होंने अपने को महत्तरा याकिनीसूनु अर्थात् याकिनी का धर्मपुत्र घोषित किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में अनेकश: अपने साथ इस विशेषण का उल्लेख किया है।[१] हरिभद्र के उपनाम के रूप में दूसरा विशेषण 'भवविरह' है।[२] उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में इस उपनाम का निर्देश किया है। विवेच्य ग्रन्थ पञ्चाशक के अन्त में हमें 'भवविरह' शब्द मिलता है। अपने नाम के साथ यह भवविरह विशेषण लगाने का क्या कारण रहा होगा, यह कहना तो कठिन है, फिर भी इस विशेषण का सम्बन्ध उनके जीवन की तीन घटनाओं से जोड़ा जाता है। सर्वप्रथम आचार्य जिनदत्त ने उन्हें भवविरह अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा दी, अत: सम्भव है उनकी स्मृति में वे अपने को भवविरह का इच्छुक कहते हों। यह भी सम्भव है कि अपने प्रिय शिष्यों के विरह की स्मृति में उन्होंने यह उपनाम धारण किया हो। पं० सुखलालजी ने इस सम्बन्ध में निम्न तीन घटनाओं का संकेत किया है-

(१) धर्मस्वीकार का प्रसंग (२) शिष्यों के वियोग का प्रसंग और (३) याचकों को दिये जाने वाले आशीर्वाद का प्रसंग तथा उनके द्वारा भवविरहसूरि चिरंजीवी हो कहे जाने का प्रसंग।[३] इस तीसरे प्रसंग का निर्देश कहावली में है।

हरिभद्र का समय

हरिभद्र के समय के सम्बन्ध में अनेक अवधारणाएँ प्रचलित हैं। अंचलगच्छीय आचार्य मेरुतुंग ने 'विचार-श्रेणी' में हरिभद्र के स्वर्गवास के सन्दर्भ में निम्न प्राचीन गाथा को उद्धृत किया है -

पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झत्ति अत्थिमओ।
हरिभद्रसूरी भवियाणं दिसउ कल्लाणं ।।

उक्त गाथा के अनुसार हरिभद्र का स्वर्गवास वि० सं० ५८५ में हुआ। इसी गाथा के आधार पर प्रद्युम्नसूरि ने अपने 'विचारसारप्रकरण' एवं समयसुन्दरगणि ने स्वसंगृहीत 'गाथासहस्री' में हरिभद्र का स्वर्गवास वि० सं० ५८५ में माना है। इसी आधार पर मुनि श्रीकल्याणविजयजी ने 'धर्म-संग्रहणी' की अपनी संस्कृत प्रस्तावना में हरिभद्र का सत्ता-समय वि० सं० की छठी शताब्दी स्थापित किया है।

कुलमण्डनसूरि ने 'विचारअमृतसंग्रह' में और धर्मसागर उपाध्याय ने तपागच्छगुर्वावली में वीर-निर्वाण-संवत् १०५५ में हरिभद्र का समय निरूपित किया है -

पणपन्नदससएहिं हरिसूरि आसि तत्थ पुव्वकई।

परम्परागत धारणा के अनुसार वी० नि० के ४७० वर्ष पश्चात् वि० सं० का प्रारम्भ मानने से (४७०+५८५ = १०५५) यह तिथि पूर्वोक्त गाथा के अनुरूप ही वि० सं० ५८५ में हरिभद्र का स्वर्गवास निरूपित करती है।

आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास वि० सं० की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ, इसका समर्थन निम्न दो प्रमाण करते हैं -

(१) तपागच्छ-गुर्वावली में मुनिसुन्दरसूरि ने हरिभद्रसूरि को मानदेवसूरि द्वितीय का मित्र बताया है जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी माना जाता है। अत: यह उल्लेख पूर्व गाथोक्त समय से अपनी संगति रखता है।

(२) इस गाथोक्त समय के पक्ष में दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हरिभद्र का 'धूर्ताख्यान' है जिसकी चर्चा मुनि जिनविजयजी ने 'हरिभद्रसूरि का समय निर्णय' (पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९८८) में नहीं की थी। सम्भवत: उन्हें निशीथचूर्णि में धूर्ताख्यान का उल्लेख सम्बन्धी यह तथ्य ज्ञात नहीं था। यह तथ्य मुझे 'धूर्ताख्यान' में मूल-स्रोत की खोज करते समय उपलब्ध हुआ है। धूर्ताख्यान के समीक्षात्मक अध्ययन में प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये ने हरिभद्र के प्राकृत धूर्ताख्यान का संघतिलक के संस्कृत धूर्ताख्यान पर और अज्ञातकृत मरुगुर्जर में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निबद्ध धूर्ताख्यान पर प्रभाव की चर्चा की है । इस प्रकार उन्होंने धूर्ताख्यान को हरिभद्र की मौलिक रचना माना है । यदि धूर्ताख्यान की कथा का निबन्धन हरिभद्र ने स्वयं अपनी स्वप्रसूत कल्पना से किया है तो वे निश्चित ही निशीथभाष्य और निशीथचूर्णि के लेखन-काल से पूर्ववर्ती हैं । क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में यह कथा उपलब्ध है । भाष्य में इस कथा का सन्दर्भ निम्न रूप में उपलब्ध होता है -

ससएलासाढ-मूलदेव, खण्डा य जुण्णउज्जाणे ।
सामत्थणे को भत्तं, अक्खात जो ण सद्दहति ।।
चोरभया गावीओ, पोट्टलए बंधिऊण आणेमि ।
तिलअइरूढकुहाडे, वणगय मलणा य तेल्लोदा ।।
वणगयपाटण कुंडिय, छम्मास हत्थिलग्गणं पुच्छे ।
रायरयग मो वादे, जहि पेच्छइ ते इमे वत्था ।।

भाष्य की उपर्युक्त गाथाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार को सम्पूर्ण कथानक जो कि चूर्णि और हरिभद्र के धूर्ताख्यान में है, पूरी तरह ज्ञात है, वे मृषावाद के उदाहरण के रूप में इसे प्रस्तुत करते हैं । अत: यह स्पष्ट है कि सन्दर्भ देने वाला ग्रन्थ उस आख्यान का आद्यस्रोत नहीं हो सकता । भाष्यों में जिस प्रकार आगमिक अन्य आख्यान सन्दर्भ रूप में आये हैं, उसी प्रकार यह आख्यान भी आया है । अत: यह निश्चित है कि यह आख्यान भाष्य से पूर्ववर्ती है । चूर्णि तो स्वयं भाष्य पर टीका है और उसमें उन्हीं भाष्य गाथाओं की व्याख्या के रूप में लगभग तीन पृष्ठों में यह आख्यान आया है, अत: यह भी निश्चित है कि चूर्णि भी इस आख्यान का मूलस्रोत नहीं है । पुन: चूर्णि के इस आख्यान के अन्त में स्पष्ट लिखा है- "सेसं धुत्तवखाणगाहाणुसारेण" (पृ० १०५) । अत: निशीथभाष्य और चूर्णि इस आख्यान के आदि स्रोत नहीं माने जा सकते । किन्तु हमें निशीथभाष्य और निशीथचूर्णि से पूर्व रचित किसी ऐसे ग्रन्थ की कोई जानकारी नहीं है जिसमें यह आख्यान आया हो ।

जब तक अन्य किसी आदिस्रोत के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है, तब तक हरिभद्र के धूर्ताख्यान को लेखक की स्वकल्पनाप्रसूत मौलिक रचना क्यों नहीं माना जाये ! किन्तु ऐसा मानने पर भाष्यकार और चूर्णिकार, इन दोनों से ही हरिभद्र को पूर्ववर्ती मानना होगा और इस सम्बन्ध में विद्वानों की जो अभी तक अवधारणा बनी हुई है वह खण्डित हो जायेगी । यद्यपि उपलब्ध सभी पट्टावलियों तथा उनके ग्रन्थ लघुक्षेत्रसमास की वृत्ति में हरिभद्र का स्वर्गवास वीर-निर्वाण संवत् १०५५ या विक्रम संवत् ५८५ तथा तदनुरूप ईसवी सन् ५२९ में माना जाता है । किन्तु पट्टावलियों में उन्हें विशेषावश्यकभाष्य के कर्त्ता जिनभद्र एवं जिनदास का पूर्ववर्ती भी माना गया है । अब हमारे सामने दो ही विकल्प हैं या तो पट्टावलियों के अनुसार हरिभद्र को जिनभद्र और जिनदास के पूर्व मानकर उनकी कृतियों पर विशेषरूप से जिनदास महत्तर पर हरिभद्र का प्रभाव सिद्ध करें या फिर धूर्ताख्यान के मूलस्रोत को अन्य किसी पूर्ववर्ती रचना या लोक-परम्परा में खोजें । यह तो स्पष्ट है कि धूर्ताख्यान चाहे वह निशीथचूर्णि का हो या हरिभद्र का, स्पष्ट ही पौराणिक युग के पूर्व की रचना नहीं है । क्योंकि वे दोनों ही सामान्यतया श्रुति, पुराण, भारत (महाभारत) और रामायण का उल्लेख करते हैं । हरिभद्र ने तो एक स्थान पर विष्णुपुराण, महाभारत के अरण्यपर्व और अर्थशास्त्र का भी उल्लेख किया है, अत: निश्चित ही यह आख्यान इनकी रचना के बाद ही रचा गया होगा । उपलब्ध आगमों में अनुयोगद्वार महाभारत और रामायण का उल्लेख करता है । अनुयोगद्वार की विषयवस्तु के अवलोकन से ऐसा लगता है कि अपने अन्तिम रूप में वह लगभग पाँचवीं शती की रचना है । धूर्ताख्यान में 'भारत' नाम आता है, 'महाभारत' नहीं । अत: इतना निश्चित है कि धूर्ताख्यान के कथानक के आद्यस्रोत की पूर्व सीमा ईसा की चौथी या पाँचवीं शती से आगे नहीं जा सकती। पुन: निशीथभाष्य और निशीथचूर्णी में उल्लेख होने से धूर्ताख्यान के आद्यस्रोत की अपर-अन्तिम सीमा छठी-सातवीं शती के पश्चात् नहीं हो सकती । इन ग्रन्थों का रचनाकाल ईसा की सातवीं शती का उत्तरार्ध हो सकता है । अत: धूर्ताख्यान का आद्यस्रोत ईसा की पाँचवीं से सातवीं शती के बीच का है ।

यद्यपि प्रमाणाभाव में निश्चितरूप से कुछ कहना कठिन है, किन्तु एक कल्पना यह भी की जा सकती है कि हरिभद्र की गुरु-परम्परा जिनभद्र और जिनदास की हो, आगे कहीं भ्रान्तिवश जिनभद्र का जिनभट और जिनदास का जिनदत्त हो गया हो, क्योंकि 'द्द' और 'ट्ट' के लेखन में और 'त्त' और 'स' के लेखन में हस्तप्रतों में बहुत ही कम अन्तर रहता है । पुन: हरिभद्र जैसे प्रतिभाशाली शिष्य का गुरु भी प्रतिभाशाली होना चाहिए, जब कि हरिभद्र के पूर्व जिनभट्ट और जिनदत्त के होने के अन्यत्र कोई संकेत नहीं मिलते हैं । हो सकता है कि धूर्ताख्यान हरिभद्र की युवावस्था की रचना हो और उसका उपयोग उनके गुरुबन्धु सिद्धसेन क्षमाश्रमण (छठी शती) ने अपने निशीथभाष्य में तथा उनके गुरु जिनदासगणि महत्तर ने निशीथचूर्णि में किया हो । धूर्ताख्यान को देखने से स्पष्ट रूप से यह लगता है कि यह हरिभद्र के युवाकाल की रचना है क्योंकि उसमें उनकी जो व्यंग्यात्मक शैली है, वह उनके परवर्ती ग्रन्थों में नहीं पायी जाती । हरिभद्र जिनभद्र एवं जिनदास की परम्परा में हुए हो, यह मात्र मेरी कल्पना नहीं है । डॉ० हर्मन जैकोबी और अन्य कुछ विद्वानों ने भी हरिभद्र के गुरु का नाम जिनभद्र माना है । यद्यपि मुनि श्री जिनविजयी ने इसे उनकी भ्रान्ति ही माना है । वास्तविकता जो भी हो, किन्तु यदि हम धूर्ताख्यान को हरिभद्र की मौलिक रचना मानते हैं तो उन्हें जिनभद्र (लगभग शक संवत् ५३०) और सिद्धसेन क्षमाश्रमण (लगभग शक संवत् ५५०) तथा उनके शिष्य जिनदासगणि महत्तर (शक संवत् ५९८ या वि० सं० ७३३) के पूर्ववर्ती या कम से कम समकालिक तो मानना ही होगा ।

यदि हम हरिभद्र को सिद्धसेन क्षमाश्रमण एवं जिनदासगणि महत्तर का पूर्ववर्ती मानते हैं तब तो उनका समय विक्रम संवत् ५८५ माना जा सकता है । मुनि जयसुन्दर विजयजी शास्त्रवार्तासमुच्चय की भूमिका में उक्त तिथि का समर्थन करते हुए लिखते हैं - प्राचीन अनेक ग्रन्थकारों ने श्री हरिभद्रसूरि को ५८५ वि० सं० में होना बताया है । इतना ही नहीं, किन्तु श्री हरिभद्रसूरि ने स्वयं भी अपने समय का उल्लेख संवत् तिथि-वार-मास और नक्षत्र के साथ लघुक्षेत्रसमास की वृत्ति में किया है, जिस वृत्ति की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ताड़पत्रीय जैसलमेर की प्रति का परिचय मुनि श्री पुण्यविजय-सम्पादित 'जैसलमेर कलेक्शन' पृष्ठ ६८ में इस प्रकार प्राप्य है : "क्रमांक १९६, जम्बू द्वीपक्षेत्रसमासवृत्ति, पत्र २६, भाषा, प्राकृत-संस्कृत, कर्त्ता : हरिभद्र आचार्य, प्रतिलिपि ले० सं० अनुमानत: १४वीं शताब्दी।"

इस प्रति के अन्त में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है -

इति क्षेत्रसमासवृत्तिः समाप्ता ।
विरचिता श्री हरिभद्राचार्यैः ।।छ।।
लघुक्षेत्रसमासस्य वृत्तिरेषा समासतः ।
रचिताबुधबोधार्थं श्री हरिभद्रसूरिभिः ।।१।।
पञ्चाशितिकवर्षे विक्रमतो व्रजति शुक्लपञ्चम्याम् ।
शुक्रस्य शुक्रवारे शस्ये पुष्ये च नक्षत्रे ।।२।।

ठीक इसी प्रकार का उल्लेख अहमदाबाद, संवेगी उपाश्रय के हस्तलिखित भण्डार की सम्भवत: पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखी हुई क्षेत्र-समास की कागज की एक प्रति में उपलब्ध होता है।

दूसरी गाथा में स्पष्ट शब्दों में श्री हरिभद्रसूरि ने लघुक्षेत्रमास-वृत्ति का रचनाकाल वि० सं० (५) ८५, पुष्यनक्षत्र शुक्र (ज्येष्ठ) मास, शुक्रवार-शुक्लपञ्चमी बताया है। यद्यपि यहाँ वि० सं० ८५ का उल्लेख है। तथापि जिन वार-तिथि-मास-नक्षत्र का यह उल्लेख है उनसे वि० सं० ५८५ का ही मेल बैठता है। अहमदाबाद वेधशाला के प्राचीन ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष श्री हिम्मतराम जानी ने ज्योतिष और गणित के आधार पर जाँच करके यह बताया है कि उपर्युक्त गाथा में जिन वार-तिथि इत्यादि का उल्लेख है, वह वि० सं० ५८५ के अनुसार बिलकुल ठीक है, ज्योतिषशास्त्र के गणितानुसार प्रामाणिक है।

इस प्रकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने स्वयं ही अपने समय की अत्यन्त प्रामाणिक सूचना दे रखी है, तब उससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है जो उनके इस समय की सिद्धि में बाधा डाल सके ? शंका हो सकती है कि 'यह गाथा किसी अन्य ने प्रक्षिप्त की होगी' किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रक्षेप करने वाला केवल संवत् का उल्लेख कर सकता है किन्तु उसके साथ प्रामाणिक वार-तिथि आदि का उल्लेख नहीं कर सकता। हाँ, यदि धर्मकीर्ति आदि का समय इस समय में बाधा उत्पन्न कर रहा हो तो धर्मकीर्ति आदि के समयोल्लेख के आधार पर श्री हरिभद्रसूरि को विक्रम की छठी शताब्दी से खींचकर आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ले जाने की अपेक्षा उचित यह है कि श्री हरिभद्रसूरि के इस अत्यन्त प्रामाणिक समय-उल्लेख के बल से धर्मकीर्ति आदि को ही छठी शताब्दी के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध में ले जाया जाय।

किन्तु मुनि श्रीजयसुन्दरविजयजी की उपर्युक्त सूचना के अनुसार जम्बूद्वीप क्षेत्र समासवृत्ति का रचनाकाल है। पुन: इसमें मात्र ८५ का उल्लेख है, ५८५ का नहीं। इत्सिंग आदि का समय तो सुनिश्चित है। पुन: समस्या न केवल धर्मकीर्ति आदि के समय की है, अपितु जैन-परम्परा के सुनिश्चित समयवाले जिनभद्र, सिद्धसेनक्षमाश्रमण एवं जिनदासगणि महत्तर की भी है- इनमें से कोई भी विक्रम संवत् ५८५ से पूर्ववर्ती नहीं है जबकि इनके नामोल्लेख सहित ग्रन्थावतरण हरिभद्र के ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें सबसे पूर्ववर्ती जिनभद्र का सत्ता-समय भी शक संवत् ५३० अर्थात् विक्रम संवत् ६६५ के लगभग है। अत: हरिभद्र के स्वर्गवास का समय विक्रम संवत् ५८५ किसी भी स्थिति में प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

हरिभद्र को जिनभद्रगणि, सिद्धसेनगणि और जिनदासमहत्तर का समकालिक मानने पर पूर्वोक्त गाथा के वि० सं० ५८५ को शक संवत् मानना होगा और इस आधार पर हरिभद्र का समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। हरिभद्र की कृति दशवैकालिकवृत्ति में विशेषावश्यकभाष्य की अनेक गाथाओं का उल्लेख यही स्पष्ट करता है कि हरिभद्र का सत्ता-समय विशेषावश्यकभाष्य के पश्चात् ही होगा। भाष्य का रचनाकाल शक संवत् ५३१ या उसके कुछ पूर्व का है। अत: यदि उपर्युक्त गाथा के ५८५ को शक संवत् मान लिया जाय तो दोनों में संगति बैठ सकती है। पुन: हरिभद्र की कृतियों में नन्दीचूर्णि से भी कुछ पाठ अवतरित हुए हैं। नन्दीचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणिमहत्तर ने उसका रचना-काल शक संवत् ५९८ बताया है। अत: हरिभद्र का सत्ता समय शक संवत् ५९८ तदनुसार ई० सन् ६७६ के बाद ही हो सकता है। यदि हम हरिभद्र के काल सम्बन्धी पूर्वोक्त गाथा के विक्रम संवत् को शक संवत् मानकर उनका काल ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानें तो नन्दीचूर्णि के अवतरणों की संगति बैठाने में मात्र २०-२५ वर्ष का ही अन्तर रह जाता है। अत: इतना निश्चित है कि हरिभद्र का काल विक्रम की सातवीं/आठवीं अथवा ईस्वी सन् की आठवीं शताब्दी ही सिद्ध होगा।

इससे हरिभद्र की कृतियों में उल्लिखित कुमारिल, भर्तृहरि, धर्मकीर्ति, वृद्धधर्मोत्तर आदि से उनकी समकालिकता मानने में भी कोई बाधा नहीं आती। हरिभद्र ने जिनभद्र और जिनदास के जो उल्लेख किये हैं और हरिभद्र की कृतियों में इनके जो अवतरण मिलते हैं उनमें भी इस तिथि को मानने पर कोई बाधा नहीं आती। अत: विद्वानों को जिनविजयजी के निर्णय को मान्य करना होगा।

पुन: यदि हम यह मान लेते हैं कि निशीथचूर्णि में उल्लिखित प्राकृत धूर्ताख्यान किसी पूर्वाचार्य की कृति थी और उसके आधार पर ही हरिभद्र ने अपने प्राकृत धूर्ताख्यान की रचना की तो ऐसी स्थिति में हरिभद्र के समय को निशीथचूर्णि के रचनाकाल ईस्वी सन् ६७६ से आगे लाया जा सकता है। मुनि श्री जिनविजयजी ने अनेक आन्तर और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अपने ग्रन्थ 'हरिभद्रसूरि का समय-निर्णय' में हरिभद्र के समय को ई० सन् ७००-७७० स्थापित किया है। यदि पूर्वोक्त गाथा के अनुसार हरिभद्र का समय विक्रम सं० ५८५ मानते हैं तो जिनविजयजी द्वारा निर्धारित समय और गाथोक्त समय में लगभग २०० वर्षों का अन्तर रह जाता है। जो उचित नहीं लगता है। अत: इसे शक संवत् मानना उचित होगा। इसी क्रम में मुनि जिनविजयजी ने 'चतुर्थस्तुतिनिर्णयशंकोद्धार' में 'रत्नसंचयप्रकरण' की निम्न गाथा का उल्लेख किया है -

पणपण्णबारससए हरिभद्दोसूरि आसि पुव्वकाए ।

इस गाथा के आधार पर हरिभद्र का समय वीर-निर्वाण संवत्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२५५ अर्थात् वि० सं० ७८५ या ईसवी सन् ७२८ आता है । इस गाथा में उनके स्वर्गवास का उल्लेख नहीं है, अत: इसे उनका सत्ता-समय माना जा सकता है । यद्यपि उक्त गाथा की पुष्टि हेतु हमें अन्य कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है । यदि हम इसी प्रसंग में वीर-निर्वाण संवत् के सम्बन्ध में चली आ रही ६० वर्ष की भूल को संशोधित कर वीर-निर्वाण को वि० पू० ४१० या ई० पू० ४६७ मानते हैं जैसा कि मैंने अपने एक निबन्ध (देखें : सागर जैन-विद्या भारती, भाग १) में सिद्ध किया है, तो ऐसी स्थिति में हरिभद्र का स्वर्गवास काल १२५५-४६७= ७८८ ई० सिद्ध हो जाता है और यह काल जिनविजयजी द्वारा निर्धारित हरिभद्र के सत्ता-समय ईसवी सन् ७०० से ७७० के अधिक निकट है ।

हरिभद्र के उपर्युक्त समय-निर्णय के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या खड़ी होती है सिद्धर्षिकृत उपमितिभवप्रपंचकथा के उस उल्लेख से जिसमें सिद्धर्षि ने हरिभद्र को अपना धर्मबोधकर गुरु कहा है । उन्होंने यह कथा वि० सं० ९६२ में ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, गुरुवार के दिन पूर्ण की थी । सिद्धर्षि के द्वारा लिखे गये इस तिथि के अनुसार यह काल ९०६ ई० सिद्ध होता है तथा उसमें बताए गए वार, नक्षत्र आदि भी ज्योतिष की गणना से सिद्ध होते हैं । सिद्धर्षि उपमितिभवप्रपंचकथा में हरिभद्र के विषय में लिखते हैं कि उन्होंने (हरिभद्र ने) अनागत अर्थात् भविष्य में होने वाले मुझको जानकर ही मेरे लिये चैत्यवंदनसूत्र का आश्रय लेकर 'ललितविस्तरा-वृत्ति' की रचना की । यद्यपि कुछ जैन-कथानकों में सिद्धर्षि और हरिभद्र के पारस्परिक सम्बन्ध को सिद्ध किया गया है और यह बताया गया है कि सिद्धर्षि हरिभद्र के हस्तदीक्षित शिष्य थे, किन्तु सिद्धर्षि का यह कथन कि 'भविष्य में होने वाले मुझको जानकर ....' यही सिद्ध करता है कि आचार्य हरिभद्र उनके परम्परा-गुरु थे, साक्षात् गुरु नहीं ।

स्वयं सिद्धर्षि ने भी हरिभद्र को कालव्यवहित अर्थात् पूर्वकाल में होने वाले तथा अपने को अनागत अर्थात् भविष्य में होने वाला कहा है । अत: दोनों के बीच काल का पर्याप्त अन्तर होना चाहिए । यद्यपि यह सत्य है कि सिद्धर्षि को उनके ग्रन्थ ललितविस्तरा के अध्ययन से जिन-धर्म में स्थिरता हुई थी, इसलिए उन्होंने हरिभद्र को धर्मबोध प्रदाता गुरु कहा, साक्षात् गुरु नहीं कहा । मुनि जिनविजयजी ने भी हरिभद्र को सिद्धर्षि का साक्षात् गुरु नहीं माना है ।

'कुवलयमाला' के कर्ता उद्योतनसूरि ने अपने इस ग्रन्थ में जो शक संवत् ६९९ अर्थात् ई० सन् ७७७ में निर्मित है, हरिभद्र एवं उनकी कृति 'समराइच्चकहा' तथा उनके भवविरह नाम का उल्लेख किया है । अत: हरिभद्र ई० सन् ७७७ के पूर्व हुए हैं, इसमें कोई विवाद नहीं रह जाता है ।

हरिभद्र, सिद्धर्षि और अकलंक के पूर्ववर्ती हैं, इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रमाण यह है कि सिद्धर्षि ने न्यायावतार की टीका में अकलंक द्वारा मान्य स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क- इन तीन प्रमाणों की चर्चा की है । अकलंक के पूर्व जैनदर्शन में इन तीन प्रमाणों की चर्चा अनुपस्थित है । हरिभद्र ने भी कहीं इन तीन प्रमाणों की चर्चा नहीं की है । अत: हरिभद्र, अकलंक और सिद्धर्षि से पूर्ववर्ती हैं । अकलंक का समय विद्वानों ने ई० सन् ७२०-७८० स्थापित किया है । अत: हरिभद्र या तो अकलंक के पूर्ववर्ती या वरिष्ठ समकालीन ही सिद्ध होते है ।

हरिभद्र का व्यक्तित्व

हरिभद्र का व्यक्तित्व अनेक सद्गुणों की पूँजीभूत भास्वर प्रतिभा है । उदारता, सहिष्णुता, समदर्शिता ऐसे सद्गुण हैं जो उनके व्यक्तित्व को महनीयता प्रदान करते हैं । उनका जीवन समभाव की साधना को समर्पित है । यही कारण है कि विद्या के बल पर उन्होंने धर्म और दर्शन के क्षेत्र में नए विवाद खड़े करने के स्थान पर उनके मध्य समन्वय साधने का पुरुषार्थ किया है । उनके लिए 'विद्या विवादाय' न होकर पक्ष-व्यामोह से ऊपर उठकर सत्यान्वेषण करने हेतु है । हरिभद्र पक्षाग्रही न होकर सत्याग्रही हैं, अत: उन्होंने मधुसंचयी भ्रमर की तरह विविध धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं से बहुत कुछ लिया है और उसे जैन-परम्परा की अनेकान्त दृष्टि से समन्वित भी किया है । यदि उनके व्यक्तित्च की महानता को समझना है तो विविध क्षेत्रों में उनके अवदानों का मूल्यांकन करना होगा और उनके अवदान का वह मूल्यांकन ही उनके व्यक्तित्व का मूल्याकंन होगा ।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान क्या है ? यह समझने के लिए इस चर्चा को हम निम्न बिन्दुओं में विभाजित कर रहे हैं-

(१) दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण।

(२) अन्य दर्शनों की समीक्षा में भी शिष्ट भाषा का प्रयोग तथा अन्य धर्मों एवं दर्शनों के प्रवर्तकों के प्रति बहुमानवृत्ति ।

(३) शुष्क दार्शनिक समालोचनाओं के स्थान पर उन अवधारणाओं के सार-तत्त्व और मूल उदेश्यों को समझने का प्रयत्न ।

(४) अन्य दार्शनिक मान्यताओं में निहित सत्यों को एवं इनकी मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए जैन-दृष्टि के साथ उनके समन्वय का प्रयत्न ।

(५) अन्य दार्शनिक परम्पराओं के ग्रन्थों का निष्पक्ष अध्ययन करके उन पर व्याख्या और टीका का प्रणयन करना ।

(६) उदार और समन्वयवादी दृष्टि रखते हुए पौराणिक अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन करना ।

(७) दर्शन और धर्म के क्षेत्र में आस्था या श्रद्धा की अपेक्षा तर्क एवं युक्ति पर अधिक बल; किन्तु शर्त यह कि तर्क और युक्ति का प्रयोग अपने मत की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु सत्य की खोज के लिए हो ।

(८) धर्म-साधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर चरित्र की निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयत्न ।

(९) मुक्ति के सम्बन्ध में एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण ।

(१०) उपास्य के नाम-भेद को गौण मानकर उसके गुणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर बल ।

अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण

जैन-परम्परा में अन्य परम्पराओं के विचारकों के दर्शन एवं धर्मोपदेश के प्रस्तुतीकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित (इसिभासियाई लगभग ई० पू० ३ शती) में परिलक्षित होता है । इस ग्रंथ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं के प्रवर्तकों, यथा-नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि कहकर सम्बोधित किया गया है और उनके विचारों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है । निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य परम्पराओं के प्रति समादर भाव का यह अति प्राचीन काल का अन्यतम और मेरी दृष्टि में एकमात्र उदाहरण है । अन्य परम्पराओं के प्रति ऐसा समादर भाव वैदिक और बौद्ध परम्परा के प्राचीन साहित्य में हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होता । स्वयं जैन-परम्परा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी । परिणामस्वरूप यह महान् ग्रन्थ जो कभी अंग-साहित्य का एक भाग था, वहाँ से अलगकर परिपार्श्व में डाल दिया गया । यद्यपि सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम-ग्रन्थों में तत्कालीन अन्य परम्पराओं के विवरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनमें अन्य दर्शनों और परम्पराओं के प्रति वह उदारता और शालीनता परिलक्षित नहीं होती, जो ऋषिभाषित में थी । सूत्रकृतांग अन्य दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का विवरण तो देता है किन्तु उन्हें मिथ्या, अनार्य या असंगत कहकर उनकी आलोचना भी करता है । भगवती में विशेष रूप में मंखलि-गोशालक के प्रसंग में तो जैन-परम्परा सामान्य शिष्टता का भी उल्लंघन कर देती है । ऋषिभाषित में जिस मंखलि-गोशालक को अर्हत् ऋषि के रूप में सम्बोधित किया गया था, भगवती में उसी का अशोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है । यहाँ यह चर्चा मैं केवल इसलिए कर रहा हूँ कि हम हरिभद्र की उदारदृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें और यह जान सकें कि न केवल जैन-परम्परा में, अपितु समग्र भारतीय दर्शन में उनका अवदान कितना महान् है ।

जैन-दार्शनिकों में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है । उन्होंने बत्तीस द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं, उनमें नवीं में वेदवाद, दशवीं में योगविद्या, बारहवीं में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में वैशेषिकदर्शन, पन्द्रहवीं में बौद्धदर्शन और सोलहवीं में नियतिवाद की चर्चा है, किन्तु सिद्धसेन ने यह विवरण समीक्षात्मक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है । वे अनेक प्रसंगों में इन अवधारणाओं के प्रति चुटीले व्यंग्य भी कसते हैं । वस्तुतः दार्शनिकों में अन्य दर्शनों के जानने और उनका विवरण प्रस्तुत करने की जो प्रवृत्ति विकसित हुई थी उसका मूल आधार विरोधी मतों का निराकरण करना ही था । सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं हैं । साथ ही पं० सुखलालजी संघवी का यह भी कहना है कि सिद्धसेन की कृतियों में अन्य दर्शनों का जो विवरण उपलब्ध है वह भी पाठ-भ्रष्टता और व्याख्या के अभाव के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है ।[४] यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हरिभद्र के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं वैचारिक उदारता का परिचय दिया है, फिर भी ये सभी विचारक इतना तो मानते ही हैं कि अन्य दर्शन ऐकान्तिक दृष्टि का आश्रय लेने के कारण मिथ्या-दर्शन हैं जबकि जैन-दर्शन अनेकान्त-दृष्टि अपनाने के कारण सम्यग्दर्शन हैं । वस्तुतः वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस ऊँचाई का स्पर्श हरिभद्र ने अपनी कृतियों में किया है वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जैनेतर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता । यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचन्द्र, यशोविजय, आनन्दघन आदि अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति समभाव और उदारता का परिचय देते हैं, किन्तु उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है । उदारहण के रूप में हेमचन्द्र अपने महादेव-स्तोत्र (४४) में निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं -

भव-बीजांकुरजनना रागाद्याक्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।

वस्तुतः २५०० वर्ष के सुदीर्घ जैन-इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके । यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों ने जैन-दर्शन की अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है जिस स्तर की हरिभद्र की है । उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जायें किन्तु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदार दृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो ।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है - एक तो उन परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से । आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसे दो रूप मिलते हैं । साथ ही जब ग्रन्थकर्त्ता का मुख्य उद्देश्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परम्पराओं के प्रस्तुतीकरण में न्याय नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करता है । उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है । यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है । अपने ग्रन्थ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अन्धविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं और न उनके सम्बन्ध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं ।

दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना और उसमें हरिभद्र का स्थान

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनों के सिद्धान्त को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की कोटि का और उससे प्राचीन दर्शन संग्राहक कोई अन्य ग्रन्थ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक-तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रन्थों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन-परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किये हैं किन्तु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में नयचक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरोधी मतों की दलीलों से हो सकता है। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें, तभी उचित है अन्यथा नहीं।[५] नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन-परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

जैनेतर परम्पराओं के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में सन्देह है। इस ग्रन्थ में भी पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त की स्थापना की गयी है। अत: किसी सीमा तक इसकी शैली को नयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है किन्तु जहाँ नयचक्र, अन्तिम मत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अन्तिम सत्य नहीं मानता है, वहाँ 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' वेदान्त को एकमात्र और अन्तिम सत्य स्वीकार करता है। अत: यह एक दर्शनसंग्राहक ग्रन्थ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है वह इसमें नहीं है।

जैनतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई० १३५०?) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रह की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' और 'सर्वदर्शनसंग्रह' दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरपेक्ष भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ वैदिक परम्परा के इन दोनों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अत: इन दोनों ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

इसके पश्चात् वैदिक परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद' का क्रम आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक दर्शनों में वे छ: प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध-दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिक दर्शनों में-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थान-भेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है जो उसे पूर्व उल्लिखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों से अलग करती है, वह यह कि इस ग्रन्थ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रान्त तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूँकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रवष्टि होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन-प्रस्थानों के भेद किये हैं।[६] इस प्रकार प्रस्थान-भेद में यत्किञ्चित् उदारता का परिचय प्राप्त होता है किन्तु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों के सन्दर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो सर्वदर्शनकौमुदीकार को भी इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में हरिभद्र की जो निष्पक्ष और उदार दृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं किन्तु उनमें भी लेखक कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन को ही अन्तिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करता प्रतीत होता है।

हरिभद्र के पश्चात् जैन-परम्परा में लिखे गए दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में अज्ञातकर्तृक 'सर्वसिद्धान्तप्रवेशक' का स्थान आता है किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है, क्योंकि इसके मंगलाचरण में 'सर्वभावप्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं' ऐसा उल्लेख है। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का ही अनुसरण करती है।[७] अन्तर मात्र यह है कि जहाँ हरिभद्र का ग्रन्थ पद्य में है वहाँ सर्वसिद्धान्तप्रवेशक गद्य में है। साथ ही यह ग्रन्थ हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा कुछ विस्तुत भी है।

जैन-परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम १२६५) के 'विवेकविलास' का आता है। इस ग्रन्थ के अष्टम उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है, जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक- इन छ:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पं० दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रन्थ की एक विशेषता तो यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करना ही है, क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया गया है -

'अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः' ।।१३।।

यह ग्रन्थ भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र ६६ श्लोक प्रमाण हैं।

जैन-परम्परा में दर्शन- संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम १४०५) के षड्दर्शनसमुच्चय का आता है। इस ग्रन्थ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रन्थ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है और अन्त में नास्तिक के रूप में चार्वाक-दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अन्तर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहाँ हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं वहाँ राजशेखर जैनदर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं० सुखलाल संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके[८]।

पं० दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ आचार्य मेरुतुंगकृत 'षड्दर्शननिर्णय' है[९]। इस ग्रन्थ में मेरुतुंग ने जैन, बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, न्याय और वैशेषिक - इन छः दर्शनों की मीमांसा की है किन्तु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिये लिखा गया है। इसकी एकमात्र विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पं० दलसुखभाई मालवणिया ने षड्दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की वृत्ति के अन्त में अज्ञातकृत एक कृति मुद्रित है[१०]। इसमें भी जैन, न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक- ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है किन्तु अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैनदर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रन्थ में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं।

समीक्षा में शिष्टभाषा का प्रयोग और अन्य धर्मप्रवर्तकों के प्रति बहुमान

दर्शन के क्षेत्र में अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की पुष्टि तथा विरोधी अवधारणाओं के खण्डन के प्रयत्न अत्यन्त प्राचीनकाल से होते रहे हैं। प्रत्येक दर्शन अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिये अन्य दार्शनिक मतों की समालोचना करता है। स्वपक्ष का मण्डन तथा परपक्ष का खण्डन—यह दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति रही है। हरिभद्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। फिर भी उनकी यह विशेषता है कि अन्य दार्शनिक मतों की समीक्षा में वे सदैव ही शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा विरोधी दर्शनों के प्रवर्तकों के लिए भी बहुमान प्रदर्शित करते हैं। दार्शनिक समीक्षाओं के क्षेत्र में एक युग ऐसा रहा है जिसमें अन्य दार्शनिक परम्पराओं को न केवल भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता था, अपितु उनके प्रवर्तकों का उपहास भी किया जाता था। जैन और जैनेतर दोनों ही परम्पराएँ इस प्रवृत्ति से अपने को मुक्त नहीं रख सकीं। जैन-परम्परा के सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र आदि दिग्गज दार्शनिक भी जब अन्य दार्शनिक परम्पराओं की समीक्षा करते हैं तो न केवल उन परम्पराओं की मान्यताओं के प्रति, अपितु उनके प्रवर्तकों के प्रति भी चुटीले व्यंग्य कस देते हैं। हरिभद्र स्वयं भी अपने लेखन के प्रारम्भिक काल में इस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं रहे हैं। जैन-आगमों की टीका में और धूर्ताख्यान जैसे ग्रन्थों की रचना में वे स्वयं भी इस प्रकार के चुटीले व्यंग्य कसते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि विद्वत्ता की प्रौढ़ता के साथ हरिभद्र में धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है और अपने परवर्ती ग्रन्थों में वे अन्य परम्पराओं और उनके प्रवर्तकों के प्रति अत्यन्त शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा उनके प्रति बहुमान सूचित करते हैं। इसके कुछ उदाहरण हमें उनके ग्रन्थ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में देखने को मिल जाते हैं। अपने ग्रन्थ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं -

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ।।

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ में वे कपिल को दिव्य पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं -कपिलो दिव्यो हि स महामुनिः (शास्त्रवार्तासमुच्चय, २३७)। इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत्, महामुनिः सुवैद्य आदि विशेषणों से अभिहित करते हैं -यतो बुद्धो महामुनिः सुवैद्यवत् (वही, ४६५-४६६)। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं - न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार हरिभद्र ने अन्य परम्पराओं के प्रति जिस शिष्टता और आदरभाव का परिचय दिया है, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती।

हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया, वह भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है। यद्यपि हरिभद्र चार्वाक दर्शन की समीक्षा करते हुए उसके भूत स्वभाववाद का खण्डन करते हैं और उसके स्थान पर कर्मवाद की स्थापना करते हैं। किन्तु सिद्धान्त में कर्म के जो दो रूप-द्रव्यकर्म और भावकर्म माने गए हैं उसमें एक ओर भावकर्म के स्थान को स्वीकार नहीं करने के कारण जहाँ वे चार्वाक-दर्शन की समीक्षा करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे द्रव्यकर्म की अवधारणा को स्वीकार करते हुए चार्वाक के भूत स्वभाववाद की सार्थकता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है।[११] प० सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि हरिभद्र ने दोनों पक्षों अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग में चित्तवासना की प्रमुखता को तथा चार्वाकों के अनुसार भौतिक तत्त्व की प्रमुखता को एक-एक पक्ष के रूप में परस्परपूरक एवं सत्य मानकर कहा कि जैन कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मन्तव्यों का सुमेल हुआ है।[१२]

इसी प्रकार 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगत-कर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं, किन्तु जहाँ चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन आचार्यो ने इन अवधारणाओं का खण्डन किया है, वहाँ हरिभद्र इनकी भी सार्थकता को स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने ईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को देखने का प्रयास किया है। प्रथम तो यह कि मनुष्य में कष्ट के समय स्वाभाविक रूप से किसी ऐसी शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है जिसके द्वारा वह अपने में आत्मविश्वास जागृत कर सके। पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि मानव-मन की प्रपत्ति या शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तो नहीं कही जा सकती। उनकी इस अपेक्षा को ठेस न पहुँचे तथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए उन्होंने (हरिभद्र ने) ईश्वर-कर्तृत्ववाद की अवधारणा को अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[१३] हरिभद्र कहते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपने विकास की उच्चतम भूमिका को प्राप्त हुआ हो वह असाधारण आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्ध पुरुष है। उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण कर्त्ता तथा भक्ति का विषय होने के कारण उपास्य है।[१४] इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वत: अपने शुद्ध रूप में परमात्मा और अपने भविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि से यदि विचार करें तो वह 'ईश्वर' भी है और 'कर्त्ता भी है। इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी समीचीन ही सिद्ध होता है।[१५] हरिभद्र सांख्यों के प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करते हैं, किन्तु वे प्रकृति को जैन-परम्परा में स्वीकृत कर्मप्रकृति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं कि "सत्य न्याय की दृष्टि से प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है क्योंकि उसके वक्ता कपिल दिव्य-पुरुष और महामुनि हैं।[१६]

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है किन्तु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धान्त का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपेदश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिये ही दिया है क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है तो उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं है तो उनके प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रखकर संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है।[१७] इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध-दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद-इन तीनों सिद्धान्तों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रहाण हो।

अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए हरिभद्र स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि सामान्य की दृष्टि से तो अद्वैत की अवधारणा भी सत्य है। इसके साथ ही साथ वे यह भी बताते हैं कि विषमता के निवारण के लिए और समभाव की स्थापना के लिए अद्वैत की भूमिका भी आवश्यक है।[१८] अद्वैत परायेपन की भावना का निषेध करता है, इस प्रकार द्वेष का उपशमन करता है। अत: वह भी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त के ज्ञान मार्ग को भी वे समीचीन ही स्वीकार करते हैं।[१९]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिये न होकर उन दार्शनिक परम्पराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिये ही है। स्वयं उन्होंने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्राक्कथन में यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य अन्य परम्पराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध करना है[२०]। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि उन्होंने ईमानदारी से प्रत्येक दार्शनिक मान्यता के मूलभूत उद्देश्यों को समझाने का प्रयास किया है और इस प्रकार वे आलोचक के स्थान पर सत्य के गवेषक ही अधिक प्रतीत होते हैं।

अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्येता एवं निष्पक्ष व्याख्याकार

भारतीय दार्शनिकों में अपने से इतर परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति प्रारम्भ में हमें दृष्टिगत नहीं होती है। बादरायण, जैमिनि आदि दिग्गज विद्वान् भी जब दर्शनों की समालोचना करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे दूसरे दर्शनों को अपने सतही ज्ञान के आधार पर भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करके उनका खण्डन कर देते हैं। यह सत्य है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनैकान्तिक एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा का विकास सर्वप्रथम जैन दार्शनिकों ने ही किया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्र ने समालोच्य प्रत्येक दर्शन का ईमानदारीपूर्वक गम्भीर अध्ययन किया था, क्योंकि इसके बिना वे न तो उन दर्शनों में निहित सत्यों को समझा सकते थे, न उनकी स्वस्थ समीक्षा ही कर सकते थे और न उनका जैन मन्तव्यों के साथ समन्वय कर सकते थे। हरिभद्र अन्य दर्शनों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने उनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर तटस्थ भाव से टीकाएँ भी लिखीं। दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' पर उनकी टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। पतञ्जलि के 'योगसूत्र' का उनका अध्ययन भी काफी गम्भीर प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने उसी के आधार पर एवं नवीन दृष्टिकोण से योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इस प्रकार हरिभद्र जैन और जैनेतर परम्पराओं के एक ईमानदार अध्येता एवं व्याख्याकार भी हैं। जिस प्रकार प्रशस्तपाद ने दर्शन ग्रन्थों की टीका लिखते समय तद्-तद् दर्शनों के मन्तव्यों का अनुसरण करते हुए तटस्थ भाव रखा, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी इतर परम्पराओं का विवेचन करते समय तटस्थ भाव रखा है।

अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन

यद्यपि हरिभद्र अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक परम्पराओं के प्रति एक उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे उनके अतर्कसंगत अन्धविश्वासों को प्रश्रय देते हैं। एक ओर वे अन्य परम्पराओं के प्रति आदरभाव रखते हुए उनमें निहित सत्यों को स्वीकार करते हैं, तो दूसरी ओर उनमें पल रहे अन्धविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन भी करते हैं। इस दृष्टि से उनकी दो रचनाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं- (१) धूर्ताख्यान और (२) द्विजवदनचपेटिका। 'धूर्ताख्यान' में उन्होंने पौराणिक परम्पराओं में पल रहे अन्धविश्वासों का सचोट निरसन किया है। हरिभद्र ने धूर्ताख्यान में वैदिक परम्परा में विकसित इस धारणा का खण्डन किया है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, पेट से वैश्य तथा पैर से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार कुछ पौराणिक मान्यताओं यथा-शंकर के द्वारा अपनी जटाओं में गंगा को समा लेना, वायु के द्वारा हनुमान का जन्म, सूर्य के द्वारा कुन्ती से कर्ण का जन्म, हनुमान के द्वारा पूरे पर्वत को उठा लाना, वानरों के द्वारा सेतु बाँधना, श्रीकृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत धारण करना, गणेश का पार्वती के शरीर के मैल से उत्पन्न होना, पार्वती का हिमालय की पुत्री होना आदि अनेक पौराणिक मान्यताओं का व्यंग्यात्मक शैली में निरसन किया है। हरिभद्र धूर्ताख्यान की कथा के माध्यम से कुछ काल्पनिक बातें प्रस्तुत करते हैं और फिर कहते हैं कि यदि पुराणों में कही गयी उपर्युक्त बातें सत्य हैं तो ये सत्य क्यों नहीं हो सकतीं। इस प्रकार धूर्ताख्यान में वे व्यंग्यात्मक किन्तु शिष्ट शैली में पौराणिक मिथ्या-विश्वासों की समीक्षा करते हैं। इसी प्रकार द्विजवदनचपेटिका में भी उन्होंने ब्राह्मण परम्परा में पल रही मिथ्या-धारणाओं एवं वर्ण-व्यवस्था का सचोट खण्डन किया है। हरिभद्र सत्य के समर्थक हैं किन्तु अन्धविश्वासों एवं मिथ्या मान्यताओं के वे कठोर समीक्षक भी।

तर्क या बुद्धिवाद का समर्थन

हरिभद्र में यद्यपि एक धार्मिक की श्रद्धा है किन्तु वे श्रद्धा को तर्क-विरोधी नहीं मानते हैं। उनके लिए तर्करहित श्रद्धा उपादेय नहीं है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि न तो महावीर के प्रति मेरा कोई राग है और न कपिल आदि के प्रति कोई द्वेष ही है -

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

- लोकतत्त्वनिर्णय, ३८

उनके कहने का तात्पर्य यही है कि सत्य के गवेषक और साधना के पथिक को पूर्वाग्रहों से युक्त होकर विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा करनी चाहिए और उनमें जो भी युक्ति-संगत लगे उसे स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि इसके साथ ही वे बुद्धिवाद से पनपने वाले दोषों के प्रति भी सचेष्ट हैं। वे स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि युक्ति और तर्क का उपयोग केवल अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए ही नहीं किया जाना चाहिये, अपितु सत्य की खोज के लिए किया जाना चाहिए-

आग्रही वत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र तस्य मतिर्निविष्टा।
निष्पक्षपातस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र तस्य मतिरेति निवेशम्॥

आग्रही व्यक्ति अपनी युक्ति (तर्क) का भी प्रयोग वहीं करता है जिसे वह सिद्ध अथवा खण्डित करना चाहता है, जबकि अनाग्रही या निष्पक्ष व्यक्ति जो उसे युक्तिसंगत लगता है, उसे स्वीकार करता है। इस प्रकार हरिभद्र न केवल युक्ति या तर्क के समर्थक हैं किन्तु वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि तर्क या युक्ति का प्रयोग अपनी मान्यताओं की पुष्टि या अपने विरोधी मान्यताओं के खण्डन के लिये न करके सत्य की गवेषणा के लिये करना चाहिए और जहाँ भी सत्य परिलक्षित हो उसे स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वे शुष्क तार्किक न होकर सत्यनिष्ठ तार्किक हैं।

कर्मकाण्ड के स्थान पर सदाचार पर बल

हरिभद्र की एक विशेषता यह है कि उन्होंने धर्म साधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर आध्यात्मिक पवित्रता और चारित्रिक निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। यद्यपि जैन परम्परा में साधना के अंगों के रूप में दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चारित्र (शील) को स्वीकार किया गया है। हरिभद्र भी धर्म-साधना के क्षेत्र में इन तीनों का स्थान स्वीकार करते हैं किन्तु वे यह मानते हैं कि न तो श्रद्धा को अन्धश्रद्धा बनना चाहिए, न ज्ञान को कुतर्क-आश्रित होना चाहिए और न आचार को केवल बाह्यकर्मकाण्डों तक सीमित रखना चाहिए। वे कहते हैं कि 'जिन' पर मेरी श्रद्धा का कारण राग-भाव नहीं है, अपितु उनके उपदेश की युक्तिसंगतता है। इस प्रकार वे श्रद्धा के साथ बुद्धि को जोड़ते हैं, किन्तु निरा तर्क भी उन्हें इष्ट नहीं है। वे कहते हैं कि तर्क का वाग्जाल वस्तुतः एक विकृति है जो हमारी श्रद्धा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं मानसिक शान्ति को भंग करने वाला है। वह ज्ञान का अभिमान उत्पन्न करने के कारण भाव-शत्रु है । इसलिए मुक्ति के इच्छुक को तर्क के वाग्जाल से अपने को मुक्त रखना चाहिए ।[२१] वस्तुतः वे सम्यग्ज्ञान और तर्क में एक अन्तर स्थापित करते हैं। तर्क केवल विकल्पों का सृजन करता है, अत: उनकी दृष्टि में निरी तार्किकता आध्यात्मिक विकास में बाधक ही है। 'शास्त्र- वार्तासमुच्चय' में उन्होंने धर्म के दो विभाग किये हैं- एक संज्ञान-योग और दूसरा पुण्य-लक्षण ।[२२] ज्ञानयोग वस्तुत: शाश्वत सत्यों की अपरोक्षानुभूति है और इस प्रकार वह तार्किक ज्ञान से भिन्न है। हरिभद्र के अनुसार अन्धश्रद्धा से मुक्त होने के लिए तर्क एवं युक्ति को सत्य का गवेषक होना चाहिए, न कि खण्डन-मण्डनात्मक । खण्डन-मण्डनात्मक तर्क या युक्ति साधना के क्षेत्र में उपयोगी नहीं है, इस तथ्य की विस्तृत चर्चा उन्होंने अपने ग्रन्थ योगदृष्टिसमुच्चय में की है ।[२३] इसी प्रकार धार्मिक आचार को भी वे शुष्क कर्मकाण्ड से पृथक् रखना चाहते हैं। यद्यपि हरिभद्र ने कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु पं० सुखलाल संघवी ने प्रतिष्ठाकल्प आदि को हरिभद्र द्वारा रचित मानने में सन्देह व्यक्त किया है। हरिभद्र के समस्त उपदेशात्मक साहित्य, श्रावक एवं मुनि-आचार से सम्बन्धित साहित्य को देखने से ऐसा लगता है कि वे धार्मिक जीवन के लिए सदाचार पर ही अधिक बल देते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में आचार सम्बन्धी जिन बातों का निर्देश किया है वे भी मुख्यतया व्यक्ति की चारित्रिक निर्मलता और कषायों के उपशमन के निमित्त ही हैं। जीवन में कषायें उपशान्त हों, समभाव सधे यही उनकी दृष्टि में साधना का मुख्य उद्देश्य है। धर्म के नाम पर पनपने वाले थोथे कर्मकाण्ड एवं छद्म जीवन की उन्होंने खुलकर निन्दा की है और मुनिवेश में ऐहिकता का पोषण करने वालों को आड़े हाथों लिया है, उनकी दृष्टि में धर्म साधना का अर्थ है-

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ।।

- योगबिन्दु, ३१

साधनागत विविधता में एकता का दर्शन

धर्म साधना के क्षेत्र में उपलब्ध विविधताओं का भी उन्होंने सम्यक् समाधान खोजा है। जिस प्रकार 'गीता' में विविध देवों की उपासना को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी साधनागत विविधताओं के बीच एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं कि जिस प्रकार राजा के विभिन्न सेवक अपने आचार और व्यवहार में अलग-अलग होकर भी राजा के सेवक हैं- उसी प्रकार सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित आचार-पद्धतियाँ बाह्यत: भिन्न-भिन्न होकर भी तत्त्वत: एक ही हैं। सर्वज्ञों की देशना में नाम आदि का भेद होता है, तत्त्वत: भेद नहीं होता है ।[२४]

हरिभद्र की दृष्टि में आचारगत और साधनागत जो भिन्नता है वह मुख्य रूप से दो आधारों पर है। एक साधकों की रुचिगत विभिन्नता के आधार पर और दूसरी नामों की भिन्नता के आधार पर। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ऋषियों के उपदेश में जो भिन्नता है वह उपासकों की योग्यता के आधार पर है। जिस प्रकार वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों को उनकी प्रकृति की भिन्नता और रोग की भिन्नता के आधार पर अलग-अलग औषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार महात्माजन भी संसाररूपी व्याधि-हरण करने हेतु साधकों की प्रकृति के अनुरूप साधना की भिन्न-भिन्न विधियाँ बताते हैं ।[२५] वे पुन: कहते हैं कि ऋषियों के उपदेश की भिन्नता, उपासकों की प्रकृतिगत भिन्नता अथवा देशकालगत भिन्नता के आधार पर होकर तत्त्वत: एक ही होती है ।[२६] वस्तुत: विषय-वासनाओं से आक्रान्त लोगों के द्वारा ऋषियों की साधनागत विविधता के आधार पर स्वयं धर्म-साधना की उपादेयता पर कोई प्रश्नचिह्न लगाना अनुचित ही है। वस्तुत: हरिभद्र की मान्यता यह है कि धर्म-साधना के क्षेत्र में बाह्य आचारगत भिन्नता या उपास्य की नामगत भिन्नता बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि व्यक्ति अपने जीवन में वासनाओं का कितना शमन कर सका है, उसकी कषायें कितनी शान्त हुई हैं और उसके जीवन में समभाव और अनासक्ति कितनी सधी है।

मोक्ष के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण

हरिभद्र अन्य धर्माचार्यों के समान यह अभिनिवेश नहीं रखते हैं कि मुक्ति केवल हमारी साधना-पद्धति या हमारे धर्म से ही होगी। उनकी दृष्टि में मुक्ति केवल हमारे धर्म में है- ऐसी अवधारणा ही भ्रान्त है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि

नासाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रयेन मुक्ति, कषाय-मुक्ति किल मुक्तिरेव।।

अर्थात् मुक्ति न तो सफेद वस्त्र पहनने से होती है, न दिगम्बर रहने से, तार्किक वाद-विवाद और तत्त्वचर्चा से भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी एक सिद्धान्त विशेष में आस्था रखने या किसी व्यक्ति विशेष की सेवा करने से भी मुक्ति असम्भव है। मुक्ति तो वस्तुतः कषायों अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त होने में है । वे स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि मुक्ति का आधार कोई धर्म, सम्प्रदाय अथवा विशेष वेशभूषा नहीं है । वस्तुत: जो व्यक्ति समभाव की साधना करेगा, वीतराग दशा को प्राप्त करेगा, वह मुक्त होगा। उनके शब्दों में-

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य अहव अण्णो वा ।
समभावभावि अप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो ।।

अर्थात् जो भी समभाव की साधना करेगा वह निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करेगा, फिर चाहे वह श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी धर्म को मानने वाला हो।

साधना के क्षेत्र में उपास्य का नाम-भेद महत्त्वपूर्ण नहीं

हरिभद्र की दृष्टि में आराध्य के नाम-भेदों को लेकर धर्म के क्षेत्र में विवाद करना उचित नहीं है। लोकतत्त्वनिर्णय में वे कहते हैं-

यस्य अनिखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुत: जिसके सभी दोष विनष्ट हो चुके हैं और जिनमें सभी गुण विद्यमान हैं फिर उसे चाहे ब्रह्मा कहा जाये, चाहे विष्णु, चाहे जिन कहा जाय, उसमें भेद नहीं । सभी धर्म और दर्शनों में उस परमतत्त्व या परमसत्ता को राग-द्वेष, तृष्णा और आसक्ति से रहित विषय-वासनाओं से ऊपर उठी हुई पूर्णप्रज्ञ तथा परम कारुणिक माना गया है, किन्तु हमारी दृष्टि उस परमतत्त्व के मूलभूत स्वरूप पर न होकर नामों पर टिकी होती है और इसी के आधार पर हम विवाद करते हैं । जब कि यह नामों का भेद अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता है । योगदृष्टिसमुच्चय में वे लिखते हैं कि-

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च ।
शब्देस्तद् उच्यतेऽन्वर्थाद् एक एवैवमादिभिः ।।

अर्थात् सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा, तथागत आदि नामों में केवल शब्द-भेद हैं, उनका अर्थ तो एक ही है। वस्तुत: यह नामों का विवाद तभी तक रहता है जब तक हम उस आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति नहीं कर पाते हैं । व्यक्ति जब वीतराग, वीततृष्णा या अनासक्ति की भूमिका का स्पर्श करता है तब उसके सामने नामों का यह विवाद निरर्थक हो जाता है । वस्तुत: आराध्य के नामों की भिन्नता भाषागत भिन्नता है, स्वरूपगत भिन्नता नहीं । जो इन नामों के विवादों में उलझता है, वह अनुभूति से वंचित हो जाता है । वे कहते हैं कि जो उस परमतत्त्व की अनुभूति कर लेता है उसके लिये यह शब्दगत समस्त विवाद निरर्थक हो जाते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उदारचेता, समन्वयशील और सत्यनिष्ठ आचार्यों में हरिभद्र के समतुल्य किसी अन्य आचार्य को खोज पाना कठिन है । अपनी इन विशेषताओं के कारण भारतीय दार्शनिकों के इतिहास में वे अद्वितीय और अनुपम हैं ।

क्रान्तदर्शी समालोचक : जैन-परम्परा के सन्दर्भ में

हरिभद्र के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह उक्ति अधिक सार्थक है - 'कुसुमों से अधिक कोमल और वज्र से अधिक कठोर ।' उनके चिन्तन में एक ओर उदारता है, समन्वयशीलता है, अपने प्रतिपक्षी के सत्य को समझने और स्वीकार करने का विनम्र प्रयास है तो दूसरी ओर असत्य और अनाचार के प्रति तीव्र आक्रोश भी है । दुराग्रह और दुराचार फिर चाहे वह अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या अपने विरोधी के, उनकी समालोचना का विषय बने बिना नहीं रहता है । वे उदार हैं, किन्तु सत्याग्रही भी । वे समन्वयशील हैं, किन्तु समालोचक भी । वस्तुत: एक सत्य-द्रष्टा में ये दोनों तत्त्व स्वाभाविक रूप से ही उपस्थित होते हैं । जब वह सत्य की खोज करता है तो एक ओर सत्य को, चाहे फिर वह उसके अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या उसके प्रतिपक्षी में, वह सदाशयतापूर्वक उसे स्वीकार करता है, किन्तु दूसरी ओर असत्य को, चाहे फिर वह उसके अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या उसके प्रतिपक्षी में, वह साहसपूर्वक उसे नकारता है । हरिभद्र के व्यक्तित्व का यही सत्याग्रही स्वरूप उनकी उदारता और क्रान्तिकारिता का उत्स है। पूर्व में मैने हरिभद्र के उदार और समन्वयशील पक्ष की विशेष रूप से चर्चा की थी, अब मैं उनकी क्रान्तिधर्मिता की चर्चा करना चाहूँगा ।

क्रान्तदर्शी हरिभद्र

हरिभद्र के धर्म-दर्शन के क्रान्तिकारी तत्त्व वैसे तो उनके सभी ग्रन्थों में कहीं न कहीं दिखाई देते हैं, फिर भी शास्त्रवार्तासमुच्चय, धूर्ताख्यान और सम्बोधप्रकरण में वे विशेषरूप से परिलक्षित होते हैं । जहाँ शास्त्रवार्तासमुच्चय और धूर्ताख्यान में वे दूसरों की कमियों को उजागर करते हैं वहीं सम्बोधप्रकरण में अपने पक्ष की समीक्षा करते हुए उसकी कमियों का भी निर्भीक रूप से चित्रण करते हैं ।

हरिभद्र अपने युग के धर्म-सम्प्रदायों में उपस्थित अन्तर और बाह्य के द्वैत को उजागर करते हुए कहते हैं, "लोग धर्म-मार्ग की बातें करते हैं, किन्तु सभी तो उस धर्म-मार्ग से रहित हैं[२७] ।" मात्र बाहरी क्रियाकाण्ड धर्म नहीं है । धर्म तो वहाँ होता है जहाँ परमात्म-तत्त्व की गवेषणा हो । दूसरे शब्दों में, जहाँ आत्मानुभूति हो, 'स्व' को जानने और पाने का प्रयास हो । जहाँ परमात्म-तत्त्व को जानने और पाने का प्रयास नहीं है वहाँ धर्म-मार्ग नहीं है । वे कहते हैं- जिसमें परमात्म-तत्त्व की मार्गणा है, परमात्मा की खोज और प्राप्ति है, वही धर्म-मार्ग मुख्य-मार्ग है[२८] । आगे वे पुन: धर्म के मर्म को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- जहाँ विषय-वासनाओं का त्याग हो; क्रोध, मान, माया और लोभरूपी कषायों से निवृत्ति हो; वही धर्म-मार्ग है । जिस धर्म-मार्ग या साधना-पथ में इसका अभाव है वह तो (हरिभद्र की दृष्टि में) नाम का धर्म है[२९]। वस्तुत: धर्म के नाम पर जो कुछ हुआ है और हो रहा है उसके सम्बन्ध में हरिभद्र की यह पीड़ा मर्मान्तक है । जहाँ विषय-वासनाओं का पोषण होता हो, जहाँ घृणा-द्वेष और अहंकार के तत्त्व अपनी मुट्ठी में धर्म को दबोचे हुए हों, उसे धर्म कहना धर्म की विडम्बना है । हरिभद्र की दृष्टि में वह धर्म नहीं अपितु धर्म के नाम पर धर्म का आवरण डाले हुए कुछ अन्य अर्थात् अधर्म ही है । विषय-वासनाओं और कषायों अर्थात् क्रोधादि दुष्प्रवृत्तियों के त्याग के अतिरिक्त धर्म का अन्य कोई रूप हो ही नहीं सकता है । उन सभी लोगों की, जो धर्म के नाम पर अपनी वासनाओं और अहंकार के पोषण का प्रयत्न करते हैं और मोक्ष को अपने अधिकार की वस्तु मानकर यह कहते हैं कि मोक्ष केवल हमारे धर्म-मार्ग का आचरण करने से होगा, समीक्षा करते हुए हरिभद्र यहाँ तक कह देते हैं कि धर्म-मार्ग किसी एक सम्प्रदाय की बपौती नहीं है, जो भी समभाव की साधना करेगा वह मुक्त होगा, वह चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य कोई[३०] । वस्तुत: उस युग में जब साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश आज की भाँति ही अपने चरम सीमा पर थे, यह कहना न केवल हरिभद्र की उदारता की सदाशयता का प्रतीक है, अपितु उनके एक क्रान्तदर्शी आचार्य होने का प्रमाण भी है । उन्होंने जैन-परम्परा के निक्षेप के सिद्धान्त को आधार बनाकर धर्म को भी चार भागों में विभाजित कर दिया[३१]-

(१) नामधर्म - धर्म का वह रूप जो धर्म कहलाता है किन्तु जिसमें धार्मिकता का कोई लक्षण नहीं है । वह धर्मतत्त्व से रहित मात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम का धर्म है ।

(२) स्थापनाधर्म - जिन क्रियाकाण्डों को धर्म मान लिया जाता है, वे वस्तुतः धर्म नहीं धार्मिकता के परिचायक बाह्य रूप मात्र हैं । पूजा, तप आदि धर्म के प्रतीक हैं, किन्तु भावना के अभाव में वे वस्तुतः धर्म नहीं हैं । भावनारहित मात्र क्रियाकाण्ड स्थापना-धर्म है ।

(३) द्रव्यधर्म - वे आचार-परम्पराएँ जो कभी धर्म थीं या धार्मिक समझी जाती थीं, किन्तु वर्तमान सन्दर्भ में धर्म नहीं हैं । सत्वशून्य अप्रासंगिक बनी धर्म-परम्पराएँ ही द्रव्यधर्म हैं ।

(४) भावधर्म - जो वस्तुतः धर्म है वही भाव धर्म है । यथा-समभाव की साधना, विषयकषाय से निवृत्ति आदि भावधर्म हैं ।

हरिभद्र धर्म के इन चार रूपों में भावधर्म को ही प्रधान मानते हैं । वे कहते हैं कि जिस प्रकार तक्रादि के संयोग, मन्थन की प्रक्रिया और अग्नि द्वारा परितापन के फलस्वरूप दूध रूपी आत्मा घृत रूप परमात्मतत्त्व को प्राप्त होता है ।[३२] वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यह जो भागवत धर्म है, वही विशुद्धि का हेतु है ।[३३] यद्यपि हरिभद्र के इस कथन का यह आशय भी नहीं लेना चाहिए कि हरिभद्र कर्मकाण्ड के पूर्णतः विरोधी हैं । उन्होंने स्वयं ही सम्बोधप्रकरण की लगभग ५०-६० गाथाओं में आत्मशुद्धि निमित्त जिनपूजा और उसमें होने वाली आशातनाओं का सुन्दर चित्रण किया है । मात्र उनका प्रतिपाद्य यह है कि इन कर्मकाण्डों का मूल्य भावना-शुद्धि के आधार पर ही निर्धारित होता है ।[३४] यदि धार्मिक जीवन में वासना और कषायों का शमन और आत्म-विशुद्धि नहीं होती है तो कर्मकाण्ड का कोई मूल्य नहीं रह जाता है । वस्तुतः हरिभद्र साध्य की उपलब्धि के आधार पर ही साधन का मूल्यांकन करते हैं। वे उन विचारकों में से हैं जिन्हें धर्म के मर्म की पहचान है, अतः वे धर्म के नाम पर ढोंग, आडम्बर और लोकैषणा की पूर्ति के प्रयत्नों को कोई स्थान नहीं देना चाहते हैं । यही उनकी क्रान्तधर्मिता है ।

हरिभद्र के युग में जैन-परम्परा में चैत्यवास का विकास हो चुका था । अपने आपको श्रमण और त्यागी कहने वाला मुनिवर्ग जिनपूजा और मन्दिर-निर्माण के नाम पर न केवल परिग्रह का संचय कर रहा था, अपितु जिनद्रव्य (जिन-प्रतिमा को समर्पित द्रव्य) का अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति में उपयोग भी कर रहा था । जिन-प्रतिमा और जिन-मन्दिर तथाकथित श्रमणों की ध्यान-भूमि या साधना-भूमि न बनकर भोग-भूमि बन रहे थे । हरिभद्र जैसे क्रांतिदर्शी आचार्य के लिये यह सब देख पाना सम्भव नहीं था, अतः उन्होंने इसके विरोध में अपनी कलम चलाने का निर्णय लिया । वे लिखते हैं - द्रव्य-पूजा तो गृहस्थों के लिये है, मुनि के लिए तो केवल भाव-पूजा है । जो केवल मुनि-वेशधारी हैं, मुनि-आचार का पालन नहीं करते हैं, उनके लिए द्रव्य-पूजा जिन-प्रवचन की निन्दा का कारण होने से उचित नहीं है (सम्बोधप्रकरण, १/२७३) । वस्तुतः यहाँ हरिभद्र ने मन्दिर-निर्माण, प्रतिष्ठा, पूजा आदि कार्यों में उलझने पर मुनि-वर्ग का जो पतन हो सकता था, उसका पूर्वानुमान कर लिया था । यति-संस्था के विकास से उनका यह अनुमान सत्य ही सिद्ध हुआ । इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें एक ओर उनके युग के समाज के प्रति उनकी आत्म-पीड़ा मुखर हो रही है तो दूसरी ओर उसमें एक धर्मक्रान्ति का स्वर भी सुनाई दे रहा है । जिन-द्रव्य को अपनी वासना-पूर्ति का साधन बनाने वाले उन श्रावकों एवं तथाकथित श्रमणों को ललकारते हुए वे कहते हैं - जो श्रावक जिन-प्रवचन और ज्ञान-दर्शन गुणों की प्रभावना और वृद्धि करने वाले जिन-द्रव्य का जिनाज्ञा के विपरीत उपयोग करते हैं, दोहन करते हैं अथवा भक्षण करते हैं, वे क्रमशः भवसमुद्र में भ्रमण करने वाले, दुर्गति में जाने वाले और अनन्त संसारी होते हैं ।[३५] इसी प्रकार जो साधु जिनद्रव्य का भोजन करता है वह प्रायश्चित् का पात्र है ।[३६] वस्तुतः यह सब इस तथ्य का भी सूचक है कि उस युग में धर्म साधना का माध्यम न रहकर वासना-पूर्ति का माध्यम बन रहा था । अतः हरिभद्र जैसे प्रबुद्ध आचार्य के लिये उसके प्रति संघर्ष करना आवश्यक हो गया ।

सम्बोधप्रकरण में हरिभद्र ने अपने युग के जैन-साधुओं का जो चित्रण किया है वह एक ओर जैन-धर्म में साधु-जीवन के नाम पर जो कुछ हो रहा था उसके प्रति हरिभद्र की पीड़ा को प्रदर्शित करता है तो दूसरी ओर यह भी बताता है कि हरिभद्र तत्कालीन परिस्थितियों के मूक दर्शक और तटस्थ समीक्षक ही नहीं थे, अपितु उनके मन में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति की एक तीव्र आकांक्षा भी थी । वे अपनी समालोचना के द्वारा जनसमाज में एक परिवर्तन लाना चाहते थे ।

तत्कालीन तथाकथित श्रमणों के आचार-व्यवहार पर कटाक्ष करते हुए वे लिखते हैं कि जिन-प्रवचन में पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाछन्द (स्वेच्छाचारी)- ये पाँचों अवन्दनीय हैं । यद्यपि ये लोग जैन-मुनि का वेश धारण करते हैं, किन्तु इनमें मुनित्व का लक्षण नहीं है । मुनि-वेश धारण करके भी क्या-क्या दुष्कर्म करते थे, इसका सजीव चित्रण तो वे अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण के द्वितीय अधिकार में 'कुगुरु गुर्वाभास पार्श्वस्थ आदि स्वरूप' के अन्तर्गत १७१ गाथाओं में विस्तार से करते हैं । इस संक्षिप्त निबन्ध में उन सबकी समग्र चर्चा एवं व्याख्या करना तो सम्भव नहीं है, फिर भी हरिभद्र की कठोर समालोचक दृष्टि का परिचय देने के लिये कुछ विवरण देना भी आवश्यक है । वे लिखते हैं, ये मुनि-वेशधारी तथाकथित श्रमण आवास देने वाले का या राजा के यहाँ का भोजन करते हैं, बिना कारण ही अपने लिये लाए गए भोजन को स्वीकार करते हैं, भिक्षाचर्या नहीं करते हैं, आवश्यक कर्म अर्थात् प्रतिक्रमण आदि श्रमण-जीवन के अनिवार्य कर्तव्य का पालन नहीं करते हैं, कौतुक-कर्म, भूत-कर्म, भविष्य-फल एवं निमित्त-शास्त्र के माध्यम से धन-संचय करते हैं, ये घृत-मक्खन आदि विकृतियों को संचित करके खाते हैं, सूर्य-प्रमाण भोजी होते हैं अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक अनेक बार खाते रहते हैं, न तो साधू-समूह (मण्डली) में बैठकर भोजन करते हैं और न केशलुंचन करते हैं।[३७] फिर ये करते क्या हैं ? हरिभद्र लिखते हैं कि वे सवारी में घूमते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकारण कटि-वस्त्र बाँधते हैं और सारी रात निश्चेष्ट होकर सोते रहते हैं। न तो आते-जाते समय प्रमार्जन करते हैं, न अपनी उपधि (सामग्री) का प्रति-लेखन करते हैं और न स्वाध्याय ही करते हैं । अनेषणीय पुष्प, फूल और पेय ग्रहण करते हैं । भोज-समारोहों में जाकर सरस आहार ग्रहण करते हैं । जिन-प्रतिमा का रक्षण एवं क्रय-विक्रय करते हैं । उच्चाटन आदि कर्म करते हैं। नित्य दिन में दो बार भोजन करते हैं तथा लवंग, ताम्बूल और दूध आदि विकृतियों का सेवन करते हैं । विपुल मात्रा में दुकूल आदि वस्त्र, बिस्तर, जूते, वाहन आदि रखते हैं । स्त्रियों के समक्ष गीत गाते हैं । आर्यिकाओं के द्वारा लायी सामग्री लेते हैं । लोक-प्रतिष्ठा के लिए मुण्डन करवाते हैं तथा मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण धारण करते हैं । चैत्यों में निवास करते हैं, (द्रव्य) पूजा आदि कार्य आरम्भ करवाते हैं, जिन-मन्दिर बनवाते हैं, हिरण्य-सुवर्ण रखते हैं, नीच कुलों को द्रव्य देकर उनसे शिष्य ग्रहण करते हैं । मृतक-कृत्य निमित्त जिन-पूजा करवाते हैं, मृतक के निमित्त जिन-दान (चढ़ावा) करवाते हैं । धन-प्राप्ति के लिये गृहस्थों के समक्ष अंग-सूत्र आदि का प्रवचन करते हैं । अपने हीनाचारी मृत गुरु के निमित्त नदिकर्म, बलिकर्म आदि करते हैं । पाठ-महोत्सव रचाते हैं । व्याख्यान में महिलाओं से अपना गुणगान करवाते हैं । यति केवल स्त्रियों के सम्मुख और आर्यिकाएँ केवल पुरुषों के सम्मुख व्याख्यान करती हैं । इस प्रकार जिन-आज्ञा का अपलाप कर मात्र अपनी वासनाओं का पोषण करते हैं । ये व्याख्यान करके गृहस्थों से धन की याचना करते हैं । ये तो ज्ञान के भी विक्रेता हैं । ऐसे आर्यिकाओं के साथ रहने और भोजन करने वाले द्रव्य-संग्राहक, उन्मार्ग के पक्षधर मिथ्यात्वपरायण न तो मुनि कहे जा सकते हैं और न आचार्य ही ।[३८] ऐसे लोगों का वन्दन करने से न तो कीर्ति होती है और न निर्जरा ही, इसके विपरीत शरीर को मात्र कष्ट और कर्मबन्धन होता है ।[३९]

वस्तुत: जिस प्रकार गन्दगी में गिरी हुई माला को कोई भी धारण नहीं करता है, वैसे ही ये भी अपूज्य हैं।[४०] हरिभद्र ऐसे वेशधारियों को फटकारते हुए कहते हैं - यदि महापूजनीय यति (मुनि) वेश धारण करके शुद्ध चरित्र का पालन तुम्हारे लिए शक्य नहीं है तो फिर गृहस्थ वेश क्यों नहीं धारण कर लेते हो ? अरे, गृहस्थवेश में कुछ प्रतिष्ठा तो मिलेगी, किन्तु मुनि-वेश धारण करके यदि उसके अनुरूप आचरण नहीं करोगे तो उल्टे निन्दा के ही पात्र बनोगे ।[४१] यह उन जैसे साहसी आचार्य का कार्य हो सकता है जो अपने सहवर्गियों को इतने स्पष्ट रूप में कुछ कह सके । जैसा कि मैंने पूर्व पृष्ठों में चर्चा की है, हरिभद्र तो इतने उदार हैं कि वे अपनी विरोधी दर्शन-परम्परा के आचार्यों को भी महामुनि, सुवैद्य जैसे उत्तम विशेषणों से सम्बोधित करते हैं, किन्तु वे उतने ही कठोर होना भी जानते हैं, विशेष रूप से उनके प्रति जो धार्मिकता का आवरण डालकर भी अधार्मिक हैं । ऐसे लोगों के प्रति यह क्रान्तिकारी आचार्य कहता है —

ऐसे दुश्शील, साध-पिशाचों को जो भक्तिपूर्वक वन्दन नमस्कार करता है, क्या वह महापाप नहीं है ?[४२] अरे ! इन सुखशील स्वच्छन्दाचारी, मोक्ष-मार्ग के वैरी, आज्ञाभ्रष्ट साधुओं को संयति अर्थात् मुनि मत कहो। अरे, देवद्रव्य के भक्षण में तत्पर, उन्मार्ग के पक्षधर और साधुजनों को दूषित करने वाले इन वेशधारियों को संघ मत कहो । अरे, इन अधर्म और अनीति के पोषक, अनाचार का सेवन करने वाले और साधुता के चोरों को संघ मत कहो । जो ऐसे (दुराचारियों के समूह) को राग या द्वेष के वशीभूत होकर भी संघ कहता है उसे भी छेद-प्रायश्चित्त होता है ।[४३] हरिभद्र पुन: कहते हैं - जिनाज्ञा का अपलाप करने वाले इन मुनि वेशधारियों के संघ में रहने की अपेक्षा तो गर्भवास और नरकवास कहीं अधिक श्रेयस्कर है ।[४४]

हरिभद्र की यह शब्दावली इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण करने वाले अपने ही सहवर्गियों के प्रति उनके मन में कितना विद्रोह एवं आक्रोश है । वे तत्कालीन जैन-संघ को स्पष्ट चेतावनी देते हैं कि ऐसे लोगों को प्रश्रय मत दो, उनका आदर-सत्कार मत करो, अन्यथा धर्म का यथार्थ स्वरूप धूमिल हो जाएगा । वे कहते हैं कि यदि आम और नीम की जड़ों का समागम हो जाय तो नीम का कुछ नहीं बिगड़ेगा, किन्तु उसके संसर्ग में आम का अवश्य विनाश हो जाएगा ।[४५] वस्तुत: हरिभद्र की यह क्रान्तदर्शिता यथार्थ ही है, क्योंकि दुराचारियों के सान्निध्य में चारित्रिक पतन की सम्भावना प्रबल होती है । वे स्वयं कहते हैं, जो जिसकी मित्रता करता है, तत्काल वैसा हो जाता है । तिल जिस फूल में डाल दिये जाते हैं उसी की गन्ध के हो जाते हैं ।[४६] हरिभद्र इस माध्यम से समाज को उन लोगों को सतर्क रहने का निर्देश देते हैं जो धर्म का नकाब डाले अधर्म में जीते हैं क्योंकि ऐसे लोग दुराचारियों की अपेक्षा भी समाज के लिये अधिक खतरनाक हैं । आचार्य ऐसे लोगों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं- जिस प्रकार कुलवधू का वेश्या के घर जाना निषिद्ध है, उसी प्रकार सुश्रावक के लिये हीनाचारी यति का सान्निध्य निषिद्ध है। दुराचारी अगीतार्थ के वचन सुनने की अपेक्षा तो दृष्टि विष-सर्प का सान्निध्य या हलाहल विष का पान कहीं अधिक अच्छा है (क्योंकि ये तो एक जीवन का विनाश करते हैं, जबकि दुराचारी का सान्निध्य तो जन्म-जन्मान्तर का विनाश कर देता है) ।[४७]

फिर भी ऐसा लगता है कि इस क्रान्तदर्शी आचार्य की बात अनसुनी हो रही थी क्योंकि शिथिलाचारियों के अपने तर्क थे । वे लोगों के सम्मुख कहते थे कि सामग्री (शरीर-सामर्थ्य) का अभाव है । वक्र जड़ों का काल है । दुषमा-काल में विधि मार्ग के अनुरूप आचरण कठिन है । यदि कठोर आचार की बात कहेंगे तो कोई मुनि-व्रत धारण नहीं करेगा । तीर्थोच्छेद और सिद्धान्त के प्रवर्तन का प्रश्न है, हम क्या करें[४८] । उनके इन तर्कों से प्रभावित हो मूर्ख जन-साधारण कह रहा था कि कुछ भी हो वेश तो तीर्थङ्कर-प्रणीत है, अत: वन्दनीय है । हरिभद्र भारी मन में से मात्र यही कहते हैं कि मैं अपने सिर की पीड़ा किससे कहूँ ।[४९]

किन्तु यह तो प्रत्येक क्रान्तिकारी की नियति होती है। प्रथम क्षण में जनसाधारण भी उसके साथ नहीं होता है । अत: हरिभद्र का इस पीड़ा से गुजरना उनके क्रान्तिकारी होने का ही प्रमाण है । सम्भवत: जैन-परम्परा में यह प्रथम अवसर था, जब जैन-समाज के तथाकथित मुनि-वर्ग को इतना स्पष्ट शब्दों में किसी आचार्य ने लताड़ा हो। वे स्वयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दु:खी मन से कहते हैं - हे प्रभु ! जंगल में निवास और दरिद्र का साथ अच्छा है, अरे व्याधि ! और मृत्यु भी श्रेष्ठ है, किन्तु इन कुशीलों का सान्निध्य अच्छा नहीं है । अरे । (अन्य परम्परा के) हीनाचारी का साथ भी अच्छा हो सकता है, किन्तु इन कुशीलों का साथ तो बिल्कुल ही अच्छा नहीं है । क्योंकि हीनाचारी तो अल्प नाश करता है किन्तु ये तो शीलरूपी निधि का सर्वनाश ही कर देते हैं ।[५०] वस्तुत: इस कथन के पीछे आचार्य की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि है । क्योंकि जब हम किसी को इतर परम्परा का मान लेते हैं तो उसकी कमियों को कमियों के रूप में ही जानते हैं । अत: उसके सम्पर्क के कारण संघ में उतनी विकृति नहीं आती है, जितनी जैन-मुनि का वेश धारण कर दुराचार का सेवन करने वाले के सम्पर्क से । क्योंकि उसके सम्पर्क से उस पर श्रद्धा होने पर व्यक्ति का और संघ का जीवन पतित बन जाएगा । यदि सद्भाग्य से अश्रद्धा हुई तो वह जिन-प्रवचन के प्रति अश्रद्धा को जन्म देगा (क्योंकि सामान्यजन तो शास्त्र नहीं वरन् उस शास्त्र के अनुगामी का जीवन देखता है), फलत: उभयतो सर्वनाश का कारण होगी, अत: आचार्य हरिभद्र बार-बार जिन-शासन-रसिकों को निर्देश देते हैं— ऐसे जिन शासन के कलंक, शिथिलाचारियों और दुराचारियों की तो छाया से भी दूर रहो, क्योंकि ये तुम्हारे जीवन, चारित्रबल और श्रद्धा सभी को चौपट कर देंगे। हरिभद्र को जिन-शासन के विनाश का खतरा दूसरों से नहीं, अपने ही लोगों से अधिक लगा । कहा भी है

इस घर को आग लग गई घर के चिराग से ।

वस्तुत: एक क्रान्तदर्शी आचार्य के रूप में हरिभद्र का मुख्य उद्देश्य था जैन-संघ में उनके युग में जो विकृतियाँ आ गयी थीं, उन्हें दूर करना । अत: उन्होंने अपने ही पक्ष की कमियों को अधिक गम्भीरता से देखा । जो सच्चे अर्थ में समाज-सुधारक होता है, जो सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाना चाहता है, वह प्रमुख रूप से अपनी ही कमियो को खोजता है । हरिभद्र ने इस रूप में सम्बोधप्रकरण में एक क्रान्तिकारी की भूमिका निभाई है । क्रान्तिकारी के दो कार्य होते हैं, एक तो समाज में प्रचलित विकृत मान्यताओं की समीक्षा करना और उन्हें समाप्त करना, किन्तु मात्र इतने से उसका कार्य पूरा नहीं होता है । उसका दूसरा कार्य होता है सत् मान्यताओं को प्रतिष्ठित या पुन: प्रतिष्ठित करना । हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने दोनों बातों को अपनी दृष्टि में रखा है ।

उन्होंने अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण में देव,गुरु, धर्म, श्रावक आदि का सम्यक् स्वरूप कैसा होना चाहिए, इसकी भी विस्तृत व्याख्या की है । हरिभद्र ने जहाँ वेशधारियों की समीक्षा की है, वहीं आगमोक्त दृष्टि से गुरु कैसा होना चाहिये, इसकी विस्तृत विवेचना भी की है । हम उसके विस्तार में न जाकर संक्षेप में यह कहेंगे कि हरिभद्र की दृष्टि में जो पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों, तीन गुप्तियों के पालन में तत्पर है जो जितेन्द्रिय, संयमी, परिषहजयी, शुद्ध आचरण करने वाला और सत्य मार्ग को बताने वाला है, वही सुगुरु है ।[५१]

हरिभद्र के युग में गुरु के सम्बन्ध में एक प्रकार का वैयक्तिक अभिनिवेश विकसित हो गया था । कुलगुरु की वैदिक अवधारणा की भाँति प्रत्येक गुरु के आस-पास एक वर्ग एकत्रित हो रहा था जो उन्हें अपना गुरु मानता था तथा अन्य को गुरु रूप में स्वीकार नहीं करता था । श्रावकों का एक विशेष समूह एक विशेष आचार्य को अपना गुरु मानता था, जैसा कि आज भी देखा जाता है । हरिभद्र ने इस परम्परा में साम्प्रदायिकता के दुरभिनिवेश के बीज देख लिये थे । उन्हें यह स्पष्ट लग रहा था कि इससे साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़ होंगे । समाज विभिन्न छोटे-छोटे वर्गों में बँट जाएगा । इसके विकास का दूसरा मुख्य खतरा यह था कि गुणपूजक जैन-धर्म व्यक्तिपूजक बन जायेगा और वैयक्तिक रागात्मकता के कारण चारित्रिक दोषों के बावजूद एक विशेष वर्ग की, एक विशेष आचार्य की इस परम्परा से रागात्मकता जुड़ी रहेगी । युग-द्रष्टा इस आचार्य ने सामाजिक विकृति को समझा और स्पष्ट रूप से निर्देश दिया- श्रावक का कोई अपना और पराया गुरु नहीं होता है, जिनाज्ञा के पालन में निरत सभी उसके गुरु हैं ।[५२] काश, हरिभद्र के द्वारा कथित इस सत्य को हम आज भी समझ सकें तो समाज की टूटी हुई कड़ियों को पुन: जोड़ा जा सकता है ।

क्रान्तदर्शी समालोचक : अन्य परम्पराओं के सन्दर्भ में

पूर्व में हमने जैन-परम्परा में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं धर्म के नाम पर होने वाली आत्म-प्रवंचनाओं के प्रति हरिभद्र के क्रान्तिकारी अवदान की चर्चा सम्बोधप्रकरण के आधार पर की है । अब मैं अन्य परम्पराओं में प्रचलित अन्धविश्वासों की हरिभद्र द्वारा की गई शिष्ट समीक्षा को प्रस्तुत करूँगा ।

हरिभद्र की कान्तदर्शी दृष्टि जहाँ एक ओर अन्य धर्म एवं दर्शनों में निहित सत्य को स्वीकार करती है, वहीं दूसरी ओर उनकी अयुक्तिसंगत कपोलकल्पनाओं की व्यंग्यात्मक शैली में समीक्षा भी करती है। इस सम्बन्ध में उनका धूर्ताख्यान नामक ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है । इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य उद्देश्य भारत (महाभारत), रामायण और पुराणों की काल्पनिक और अयुक्तिसंगत अवधारणाओं की समीक्षा करना है । यह समीक्षा व्यंग्यात्मक शैली में है । धर्म के सम्बन्ध में कुछ मिथ्या विश्वास युगों से रहे हैं, फिर भी पुराण-युग में जिस प्रकार मिथ्या-कल्पनाएँ प्रस्तुत की गईं - वे भारतीय मनीषा के दिवालियेपन की सूचक सी लगती हैं । इस पौराणिक प्रभाव से ही जैन-परम्परा में भी महावीर के गर्भ-परिवर्तन, उनके अँगूठे को दबाने मात्र से मेरु-कम्पन जैसी कुछ चामत्कारिक घटनाएँ प्रचलित हुईं । यद्यपि जैन-परम्परा में भी चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की रानियों की संख्या एवं उनकी सेना की संख्या, तीर्थङ्करों के शरीर-प्रमाण एवं आयु आदि के विवरण सहज विश्वसनीय तो नहीं लगते हैं, किन्तु तार्किक असंगति से युक्त नहीं हैं । सम्भवत: यह सब भी पौराणिक परम्परा का प्रभाव था जिसे जैन-परम्परा को अपने महापुरुषों की अलौकिकता को बताने हेतु स्वीकार करना पड़ा था, फिर भी यह मानना होगा कि जैन-परम्परा में ऐसी कपोल-कल्पनाएँ अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं । साथ ही महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना, जो मुख्यत: ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की श्रेष्ठता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थापित करने हेतु गढ़ी गई थी, के अतिरिक्त, सभी पर्याप्त परवर्ती काल की हैं और पौराणिक युग की ही देन हैं और इनमें कपोल-काल्पनिकता का पुट भी अधिक नहीं है। गर्भ-परिवर्तन की घटना छोड़कर, जिसे आज विज्ञान ने सम्भव बना दिया है, अविश्वसनीय और अप्राकृतिक रूप से जन्म लेने का जैन-परम्परा में एक भी आख्यान नहीं है, जबकि पुराणों में ऐसे हजार से अधिक आख्यान हैं। जैन-परम्परा सदैव तर्कप्रधान रही है, यही कारण था कि महावीर की गर्भ-परिवर्तन की घटना को भी उसके एक वर्ग ने स्वीकार नहीं किया।

हरिभद्र के ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये एक ऐसे आचार्य हैं जो युक्ति को प्रधानता देते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि महावीर ने हमें कोई धन नहीं दिया है और कपिल आदि ऋषियों ने हमारे धन का अपहरण नहीं किया है, अत: हमारा न तो महावीर के प्रति राग है और न कपिल आदि ऋषियों के प्रति द्वेष। जिसकी भी बात युक्तिसंगत हो उसे ग्रहण करना चाहिये।[५३] इस प्रकार हरिभद्र तर्क को ही श्रद्धा का आधार मानकर चलते हैं। जैन-परम्परा के अन्य आचार्यों के समान वे भी श्रद्धा के विषय देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप के निर्णय के लिए क्रमश: वीतरागता, सदाचार और अहिंसा को कसौटी मानकर चलते हैं और तर्क या युक्ति से जो इन कसौटियों पर खरा उतरता है, उसे स्वीकार करने की बात कहते हैं। जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में मुख्य रूप से गुरु के स्वरूप की समीक्षा करते हैं उसी प्रकार धूर्ताख्यान में वे परोक्षत: देव या आराध्य के स्वरूप की समीक्षा करते प्रतीत होते हैं। वे यह नहीं कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु एवं महादेव हमारे आराध्य नहीं हैं। वे तो स्वयं ही कहते हैं जिसमें कोई भी दोष नहीं है और जो समस्त गुणों से युक्त है वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो या महादेव हो, उसे मैं प्रणाम करता हूँ[५४]। उनका कहना मात्र यह है कि पौराणिकों ने कपोल-कल्पनाओं के आधार पर उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व को जिस अतर्कसंगत एवं भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत किया है उससे न केवल उनका व्यक्तित्व धूमिल होता है, अपितु वे जन-साधरण की अश्रद्धा का कारण बनते हैं।

धूर्ताख्यान के माध्यम से हरिभद्र ऐसे अतर्कसंगत अन्धविश्वासों से जन-साधारण को मुक्त करना चाहते हैं, जिनमें उनके आराध्य और उपास्य देवों को चरित्रहीन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के रूप में चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वायु, अग्नि और धर्म का कुमारी एवं बाद में पाण्डु-पत्नी कुन्ती से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर पुत्र उत्पन्न करना, गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या से इन्द्र द्वारा अनैतिक रूप में यौन-सम्बन्ध स्थापित करना, लोकव्यापी विष्णु का कामी-जनों के समान गोपियों के लिए उद्विग्न होना आदि कथानक इन देवों की गरिमा को खण्डित करते हैं। इसी प्रकार हनुमान का अपनी पूँछ से लंका को घेर लेना अथवा पूरे पर्वत को उठा लाना, सूर्य और अग्नि के साथ सम्भोग करके कुन्ती का न जलना, गंगा का शिव की जटा में समा जाना, द्रोणाचार्य का द्रोण से, कर्ण का कान से, कीचक का बाँस की नली से एवं रक्त कुण्डलिन् का रक्तबिन्दु से जन्म लेना, अण्डे से जगत् की उत्पत्ति, शिवलिंग का विष्णु द्वारा अन्त न पाना, किन्तु उसी लिंग का पार्वती की योनि में समा जाना, जटायु के शरीर को पहाड़ के समान मानना, रावण द्वारा अपने सिरों को काटकर महादेव को अर्पण करना और उनका पुन: जुड़ जाना, बलराम का माया द्वारा गर्भ-परिवर्तन, बालक श्री कृष्ण के पेट में समग्र विश्व का समा जाना, अगस्त्य द्वारा समुद्र-पान और जह्नु के द्वारा गंगापान करना, कृष्ण द्वारा गोवर्धन उठा लेना आदि पुराणों में वर्णित अनेक घटनाएँ या तो उन महान् पुरुषों के व्यक्तित्व को धूमिल करती हैं या आत्म-विरोधी हैं अथवा फिर अविश्वसनीय हैं। यद्यपि यह विचारणीय है कि महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना, जो कि निश्चित ही हरिभद्र के पूर्व पूर्णत: मान्य हो चुकी थी, को स्वीकार करके भी हरिभद्र बलराम के गर्भ-परिवर्तन को कैसे अविश्वसनीय कह सकते है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि हरिभद्र धूर्ताख्यान में एक धूर्त द्वारा अपने जीवन में घटित अविश्वसनीय घटनाओं का उल्लेख करवाकर फिर दूसरे धूर्त से यह कहलवा देते हैं कि यदि भारत (महाभारत), रामायण आदि में घटित उपर्युक्त घटनाएँ सत्य हैं, तो फिर यह भी सत्य हो सकता है।

हरिभद्र द्वारा व्यंग्यात्मक शैली में रचित इस ग्रन्थ का उद्देश्य तो मात्र इतना ही है कि धर्म के नाम पर पलने वाले अन्धविश्वासों को नष्ट किया जाय और पौराणिक कथाओं में देव या महापुरुष के रूप में मान्य व्यक्तित्वों के चरित्र को अनैतिक रूप में प्रस्तुत करके उसकी आड़ में जो पुरोहित वर्ग अपनी दुश्चरित्रता का पोषण करना चाहता था, उसका पर्दाफाश किया जाय। उस युग का पुरोहित प्रथम तो इन महापुरुषों के चरित्रों को अनैतिक रूप में प्रस्तुत कर और उसके आधार पर यह कहकर कि यदि कृष्ण गोपियों के साथ छेड़छाड़ कर सकते हैं, विवाहिता राधा के साथ अपना प्रेम-प्रसंग चला सकते हैं, यदि इन्द्र महर्षि गौतम की पत्नी के साथ छल से सम्भोग कर सकता है तो फिर हमारे द्वारा यह सब करना दुराचार कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुत: जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में वे अपनी परम्परा के श्रमण-वेशधारी दुश्चरित्र कुगुरुओं को फटकारते हैं, उसी प्रकार धूर्ताख्यान में वे ब्राह्मण-परम्परा के तथाकथित धर्म के ठेकेदारों को लताड़ते हैं। फिर भी हरिभद्र की फटकारने की दोनों शैलियों में बहुत बड़ा अन्तर है। सम्बोधप्रकरण में वे सीधे फटकारते हैं जब कि धूर्ताख्यान में व्यंग्यात्मक शैली में। इसमें हरिभद्र की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि छिपी हुई है। हमें जब अपने घर के किसी सदस्य को कुछ कहना होता है तो परोक्ष रूप में तथा सभ्य शब्दावली का प्रयोग करते है। हरिभद्र धूर्ताख्यान में इस दूसरी व्यंग्यपरक शिष्ट शैली का प्रयोग करते हैं और अन्य परम्परा के देव और गुरु पर सीधा आक्षेप नहीं करते हैं।

दूसरे धूर्ताख्यान, शास्त्रवार्तासमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, लोकतत्त्वनिर्णय, सावयपण्णत्ति आदि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आराध्य या उपास्य के नाम के सम्बन्ध में हरिभद्र के मन में कोई आग्रह नहीं है, मात्र आग्रह है तो इस बात का कि उसका चरित्र निर्दोष और निष्कलंक हो। धूर्ताख्यान में उन्होंने उन सबकी समालोचना की है जो अपनी वासनाओं की पुष्टि के निमित्त अपने उपास्य के चरित्र को धूमिल करते हैं। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि कृष्ण के चरित्र में राधा और गोपियों को डाल कर हमारे पुरोहित वर्ग ने क्या-क्या नहीं किया ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिभद्र इस सम्बन्ध में सीधे तो कुछ नहीं कहते हैं, मात्र एक प्रश्न चिह्न छोड़ देते हैं कि सराग और सशस्त्र देव में देवत्व (उपास्य) की गरिमा कहाँ तक ठहर पायेगी । अन्य परम्पराओं के देव और गुरु के सम्बन्ध में उनकी सौम्य एवं व्यंग्यात्मक शैली जहाँ पाठक को चिन्तन के लिए विवश कर देती है, वहीं दूसरी ओर वह उनके क्रान्तिकारी, साहसी व्यक्तित्व को प्रस्तुत कर देती है । हरिभद्र सम्बोधप्रकरण में स्पष्ट कहते हैं कि रागी-देव, दुराचारी-गुरु और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्तियों को धर्म मानना, धर्म साधना के सम्यक् स्वरूप को विकृत करना है । अत: हमें इन मिथ्या विश्वासों से ऊपर उठना होगा । इस प्रकार हरिभद्र जनमानस को अन्धविश्वासों से मुक्त कराने का प्रयास कर अपने क्रान्तदर्शी होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।

वस्तुत: हरिभद्र के व्यक्तित्व में एक ओर उदारता और समभाव के सद्गुण हैं तो दूसरी ओर सत्यनिष्ठा और स्पष्टवादिता भी है । उनका व्यक्तित्व अनेक संदुणों का एक पूँजीभूत स्वरूप है । वे पूर्वाग्रह या पक्षाग्रह से मुक्त हैं, फिर भी उनमें सत्याग्रह है जो उनकी कृतियों में स्पष्टत: परिलक्षित होता है ।

आचार्य हरिभ्रद की रचना धर्मिता अपूर्व है, उन्होंने धर्म, दर्शन योग, कथा साहित्य सभी पक्षों पर अपनी लेखनी चलाई । उनकी रचनाओं को ३ भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

१. आगमग्रन्थों एवं पूर्वाचार्यों की कृतियों पर टीकाएँ- आचार्य हरिभद्र आगमों के प्रथम संस्कृत-टीकाकार हैं । उनकी टीकाएँ अधिक व्यवस्थित और तार्किकता लिये हुये हैं ।

२. स्वरचित ग्रन्थ एवं स्वोपज्ञ टीकाएँ - आचार्य ने जैन-दर्शन और समकालीन अन्य दर्शनों का गहन अध्ययन करके उन्हें अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है । इन ग्रन्थों में सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, अद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों का प्रस्तुतीकरण एवं सम्यक् समालोचना की है । जैन-योग के तो वे आदि प्रणेता थे, उनका योग विषयक ज्ञान मात्र सैद्धान्तिक नहीं था । इसके साथ ही उन्होंने अनेकान्तजयपताका नामक क्लिष्ट न्याय ग्रन्थ की भी रचना की ।

३. कथा-साहित्य - आचार्य ने लोक प्रचलित कथाओं के माध्यम से धर्म-प्रचार को एक नया रूप दिया है । उन्होंने व्यक्ति और समाज की विकृतियों पर प्रहार कर उनमें सुधार लाने का प्रयास किया है । समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान और अन्य लघु कथाओं के माध्यम से उन्होंने अपने युग की संस्कृति का स्पष्ट एवं सजीव चित्रांकन किया है ।

आचार्य हरिभद्र-विरचित ग्रन्थ-सूची निम्न है -

१. अनुयोगद्वार- वृत्ति । २. अनेकान्तजयपताका । ३. अनेकान्तघट्ट । ४. अनेकान्तवादप्रवेश । ५. अष्टक । ६. आवश्यकनिर्युक्तिलघुटीका । ७. आवश्यकनिर्युक्तिबहुटीका । ८. उपदेशपद । ९. कथाकोश । १०. कर्मस्तववृत्ति । ११. कुलक । १२. क्षेत्रसमासवृत्ति । १३. चतुर्विंशतिस्तुति । १४. चैत्यवंदनभाष्य । १५. चैत्यवन्दनवृत्ति । १६. जीवाभिगमलघुवृत्ति ।१७. ज्ञानपंचकविवरण। १८. ज्ञानदिव्यप्रकरण । १९. दशवैकालिक-अवचूरि ।२० दशवैकालिकबहुटीका । २१. देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण ।२२. द्विजवदनचपेटा । २३. धर्मबिन्दु । २४. धर्मलाभसिद्धि । २५. धर्मसंग्रहणी । २६. धर्मसारमूलटीका ।२७. धूर्ताख्यान । २८. नंदीवृत्ति । २९. न्याय-प्रदेशसूत्रवृत्ति । ३०. न्यायविनिश्चय। ३१. न्यायामृततरंगिणी । ३२. न्यायावतारवृत्ति । ३३. पंचनिग्रन्थी । ३४. पंचलिंगी । ३५. पंचवस्तुसटीक । ३६. पंचसंग्रह । ३७. पंचसूत्रवृत्ति । ३८. पंचस्थानक । ३९. पंचाशक । ४०. परलोकसिद्धि । ४१. पिंडनिर्युक्तिवृत्ति। ४२. प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या । ४३. प्रतिष्ठाकल्प । ४४. बृहन्मिथ्यात्वमंथन ४५. मुनिपतिचरित्र ४६. यतिदिनकृत्य । ४७. यशोधरचरित । ४८. योगदृष्टिसमुच्चय । ४९. योगबिन्दु । ५०. योगशतक । ५१. लग्नशुद्धि । ५२. लोकतत्त्वनिर्णय । ५३. लोकबिन्दु । ५४. विंशतिविंशिका । ५५. वीरस्तव । ५६. वीरांगदकथा । ५७. वेदबाह्यतानिराकरण । ५८. व्यवहारकल्प । ५९. शास्त्र-वार्तासमुच्चयसटीक । ६०. श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति । ६१. श्रावकधर्मतंत्र । ६२. षड्दर्शनसमुच्चय । ६३. षोडशक ।६४. समकित पचासी । ६५. संग्रहणीवृत्ति । ६६. संमत्तसित्तिरी । ६७. संबोधसित्तरी । ६८. समराइच्चकहा। ६९. सर्वज्ञसिद्धिप्रकरणसटीक । ७०. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार।

किन्तु इनमें कुछ ग्रन्थ ऐसे भी जिन्हें 'भवविरहांक' समदर्शी आचार्य हरिभद्र की कृति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है । आगे हम उन्हीं कृतियों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं जो निश्चित रूप से समदर्शी एवं भव-विरहांक से सूचित याकिनीसूनु हरिभद्र द्वारा प्रणीत हैं ।

आगमिक व्याख्याएँ

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है, हरिभद्र जैन-आगमों की संस्कृत में व्याख्या लिखने वाले प्रथम आचार्य हैं । आगमों की व्याख्या के सन्दर्भ में उनके निम्न ग्रन्थ उपलब्ध हैं -

(१) दशवैकालिक वृत्ति, (२) आवश्यक लघुवृत्ति, (३) अनुयोगद्वार वृत्ति, (४) नन्दी वृत्ति, (५) जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति (६) चैत्यवन्दनसूत्र वृत्ति (ललितविस्तरा) और (७) प्रज्ञापनाप्रदेश व्याख्या ।

इनके अतिरिक्त आवश्यक सूत्र बृहत्वृत्ति और पिण्डनिर्युक्ति-वृत्ति के लेखक भी आचार्य हरिभद्र माने जाते हैं, किन्तु वर्तमान में आवश्यक वृत्ति अनुपलब्ध है । जो पिण्डनिर्युक्ति टीका मिलती है उसकी उत्थानिका में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस ग्रन्थ का प्रारम्भ तो हरिभद्र ने किया था, किन्तु वे इसे अपने जीवन-काल में पूर्ण नहीं कर पाए, उन्होंने स्थापनादोष तक की वृत्ति लिखी थी, उसके आगे किसी वीराचार्य ने लिखी।

आचार्य हरिभद्र द्वारा विरचित व्याख्या ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

१. दशवैकालिक वृत्ति - यह वृत्ति शिष्यबोधिनी या बृहद्वृत्ति के नाम से भी जानी जाती है । वस्तुत: यह वृत्ति दशवैकालिक सूत्र की अपेक्षा उस पर भद्रबाहुविरचित निर्युक्ति पर है । इसमें आचार्य ने दशवैकालिक शब्द का अर्थ, ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल की आवश्यकता और उसकी व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने के साथ ही दशवैकालिक की रचना क्यों की गई इसे स्पष्ट करते हुए सय्यंभव और उनके पुत्र मनक के पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथानक का भी उल्लेख किया है । प्रथम अध्याय की टीका में आचार्य ने तप के प्रकारों की चर्चा करते हुए ध्यान के चारों प्रकारों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है । इस प्रथम अध्याय की टीका में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि अनुमान के विभिन्न अवयवों एवं हेत्वाभासों की भी चर्चा के अतिरिक्त उन्होंने इसमें निक्षेप के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है ।

दूसरे अध्ययन की वृत्ति में तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रिय, पाँच स्थावरकाय, दस प्रकार का श्रमण-धर्म और १८००० शीलांगों का भी निर्देश मिलता है । साथ ही इसमें रथनेमि और राजीमती के उत्तराध्ययन में आए हुए कथानक का भी उल्लेख है । तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत् और क्षुल्लक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के साथ ही ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को स्पष्ट किया गया है तथा कथाओं के चार प्रकारों को उदाहरण सहित समझाया गया है । चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में पञ्चमहाव्रत और रात्रिभोजन-विवरण की चर्चा के साथ-साथ जीव के स्वरूप पर भी दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है । इसमें भाष्यगत अनेक गाथाएँ भी उद्धृत गयी हैं । इसी प्रकार पंचम अध्ययन की वृत्ति में १८ स्थाणु अर्थात् व्रत-षट्क, काय-षट्क, अकल्प्य भोजन-वर्जन, गृहभाजनवर्जन, पर्यंकवर्जन, निषिध्यावर्जन, स्नानवर्जन और शोभावर्जन का उल्लेख हुआ है । षष्ठ अध्ययन में क्षुल्लकाचार का विवेचन किया गया है । सप्तम अध्ययन की वृत्ति में भाषा की शुद्धि-अशुद्धि का विचार है । अष्टम अध्ययन की वृत्ति में आचार-प्रणिधि की प्रक्रिया एवं फल का प्रतिपादन है । नवम अध्ययन की वृत्ति में विनय के प्रकार और विनय के फल तथा अविनय से होने वाली हानियों का चित्रण किया गया है । दशम अध्ययन की वृत्ति भिक्षु के स्वरूप की चर्चा करती है । दशवैकालिक वृत्ति के अंत में आचार्य ने अपने को महत्तरा याकिनी का धर्मपुत्र कहा है ।

२. **आवश्यक वृत्ति** - यह वृत्ति आवश्यक निर्युक्ति पर आधारित है । आचार्य हरिभद्र ने इसमें आवश्यक सूत्रों का पदानुसरण न करते हुए स्वतन्त्र रीति से निर्युक्ति-गाथाओं का विवेचन किया है । निर्युक्ति की प्रथम गाथा की व्याख्या करते हुए आचार्य ने पाँच प्रकार के ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित किया है । इसी प्रकार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल की भी भेद-प्रभेदपूर्वक व्याख्या की गई है । सामायिक निर्युक्ति की व्याख्या में प्रवचन की उत्पत्ति के प्रसंग पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि कुछ पुरुष स्वभाव से ही ऐसे होते हैं, जिन्हें वीतराग की वाणी अरुचिकर लगती है, इसमें प्रवचनों का कोई दोष नहीं है । दोष तो उन सुनने वालों का है । साथ ही सामायिक के उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र आदि तेईस द्वारों का विदेचन करते हुए सामायिक के निर्गम-द्वार के प्रसंग में कुलकरों की उत्पत्ति,उनके पूर्वभव, आयु का वर्णन तथा नाभिकुलकर के यहाँ भगवान् ऋषभदेव का जन्म, तीर्थङ्कर नाम, गोत्रकर्म बंधन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए अन्य आख्यानों की भाँति प्राकृत में धन नामक सार्थवाह का आख्यान दिया गया है । ऋषभदेव के पारणे का उल्लेख करते हुए विस्तृत विवेचन हेतु 'वसुदेवहिंडी' का नामोल्लेख किया गया है । भगवान् महावीर के शासन में उत्पन्न चार अनुयोगों का विभाजन करने वाले आर्यरक्षित से सम्बद्ध गाथाओं का वर्णन है । चतुर्विंशतिस्तव और वंदना नामक द्वितीय और तृतीय आवश्यक का निर्युक्ति के अनुसार व्याख्यान कर प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक की व्याख्या में ध्यान पर विशेष प्रकाश डाला गया है । साथ ही सात प्रकार के भयस्थानों सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना की गाथा उद्धृत की गई है । पञ्चम आवश्यक के रूप में कायोत्सर्ग का विवरण देकर पंचविधकाय के उत्सर्ग की तथा षष्ठ आवश्यक में प्रत्याख्यान की चर्चा करते हुए वृत्तिकार ने शिष्यहिता नामक आवश्यक टीका सम्पन्न की है । आचार्य हरिभद्र की यह वृत्ति २२,००० श्लोक-प्रमाण है ।

३. **अनुयोगद्वार वृत्ति**- यह टीका अनुयोगद्वार-चूर्णि की शैली पर लिखी गयी है जो कि नन्दीवृत्ति के बाद की कृति है । इसमें 'आवश्यक' शब्द का निपेक्ष-पद्धति से विचार कर नामादि आवश्यकों का स्वरूप बताते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है । श्रुत का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया है । स्कन्ध, उपक्रम आदि के विवेचन के बाद आनुपूर्वी को विस्तार से प्रतिपादित किया है । इसके बाद द्विनाम, त्रिनाम, चतुर्नाम, पञ्चनाम, षट्नाम, सप्तनाम, अष्टनाम, नवनाम और दशनाम का व्याख्यान किया गया है । प्रमाण का विवेचन करते हुए विविध अंगुलों के स्वरूप का वर्णन तथा समय के विवेचन में पल्योपम का विस्तार से वर्णन किया गया है । शरीर-पञ्चक के पश्चात् भावप्रमाण में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम, दर्शन चारित्र, नय और संख्या का व्याख्यान है । नय पर पुनः विचार करते हुए ज्ञाननय और क्रियानय का स्वरूप निरूपित करते हुए ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ उपयोगिता को सिद्ध किया गया है ।

४. **नन्दी वृत्ति** - यह वृत्ति नन्दीचूर्णि का ही रूपान्तर है । इसमें प्रायः उन्हीं विषयों के व्याख्यान हैं जो नन्दीचूर्णि में हैं । इसमें प्रारम्भ में नन्दी के शब्दार्थ, निक्षेप आदि एवं उसके बाद जिन, वीर और संघ की स्तुति की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए तीर्थङ्करावलिका, गणधरावलिका और स्थविरावलिका का प्रतिपादन किया गया है । नन्दी वृत्ति में ज्ञान के अध्ययन की योग्यता-अयोग्यता पर विचार करते हुए लिखा है कि अयोग्य को ज्ञान-दान से वस्तुतः अकल्याण ही होता है । इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद् का व्याख्यान, ज्ञान के भेद-प्रभेद, स्वरूप, विषय आदि का विवेचन किया गया है । केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के क्रमिक उपयोग आदि का प्रतिपादन करते हुए युगपद्वाद के समर्थक सिद्धसेन आदि का, क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्रगणि आदि का तथा अभेदवाद के समर्थक वृद्धाचार्यों का उल्लेख किया गया है । इसमें वर्णित सिद्धसेन, सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं, क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर तृतीय मत अभेदवाद के प्रवर्तक हैं । द्वितीय मत क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्र आदि को सिद्धान्तवादी कहा गया है । अन्त में श्रुत के श्रवण और व्याख्यान की विधि बताते हुए आचार्य ने नन्द्यध्ययन-विवरण सम्पन्न किया है ।

५. **जीवाभिगमसूत्र-लघुवृत्ति** - इस वृत्ति के अपरनाम के रूप में 'प्रदेशवृत्ति' का उल्लेख मिलता है । इसका ग्रन्थाग्र ११९२ गाथाएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है[55] किन्तु वृत्ति अनुपलब्ध है । जीवाभिगमसूत्र पर आचार्य मलयगिरि कृत एकमात्र वृत्ति उपलब्ध है जिसमें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का नामोल्लेख भी किया गया है । उसमें हरिभद्रकृत तत्त्वार्थ टीका का उल्लेख है, परन्तु जीवाभिगम पर उनकी किसी वृत्ति का उल्लेख नहीं है ।

६. **चैत्यवन्दनसूत्र-वृत्ति (ललितविस्तरा)** -चैत्यवन्दन के सूत्रों पर हरिभद्र ने ललितविस्तरा नाम से एक विस्तृत व्याख्या की रचना की है । यह कृति बौद्ध-परम्परा के ललितविस्तर की शैली में प्राकृत मिश्रित संस्कृत में रची गयी है । यह ग्रंथ चैत्यवन्दन के अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले प्राणातिपातदण्डकसूत्र (नमोत्थुणं), चैत्यस्तव (अरिहंत चेईयाणं), चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स), श्रुतस्तव (पुक्खरवर), सिद्धस्तव (सिद्धाणं-बुद्धाणं), प्रणिधान सूत्र (जय-वीयराय) आदि के विवेचन के रूप में लिखा गया है । मुख्यत: तो यह ग्रन्थ अरहन्त परमात्मा की स्तुतिरूप ही है, परन्तु आचार्य हरिभद्र ने इसमें अरिहन्त परमात्मा के विशिष्ट गुणों का परिचय देते हुए अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में तर्कपूर्ण समीक्षा भी की है । इसी प्रसंग में इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम यापनीय-मान्यता के आधार पर स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया गया है ।

७. **प्रज्ञापना-प्रदेश-व्याख्या** - इस टीका के प्रारम्भ में जैनप्रवचन की महिमा के बाद मंगल की महिमा का विशेष विवेचन करते हुए आवश्यक टीका का नामोल्लेख किया गया है । भव्य और अभव्य का विवेचन करने के बाद प्रथम पद की व्याख्या में प्रज्ञापना के विषय, कर्त्तृत्व आदि का वर्णन किया गया है । जीव-प्रज्ञापना और अजीव-प्रज्ञापना का वर्णन करते हुए एकेन्द्रियादि जीवों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । द्वितीय पद की व्याख्या में पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रियादि के स्थानों का वर्णन किया गया है । तृतीय पद की व्याख्या में कायाद्यल्प-बहुत्व, आयुर्बन्ध का अल्प-बहुत्व, वेद, लेश्या, इन्द्रिय आदि दृष्टियों से जीव-विचार, लोक सम्बन्धी अल्प-बहुत्व, पुद्गलाल्प-बहुत्व, द्रव्याल्प-बहुत्व अवगाढाल्प-बहुत्व आदि पर विचार किया गया है । चतुर्थ पद में नारकों की स्थिति तथा पञ्चम पद की व्याख्या में नारकपर्याय, अवगाह, षट्स्थानक, कर्मस्थिति और जीवपर्याय का विश्लेषण किया गया है । षष्ठ और सप्तम पद में नारक सम्बन्धी विरहकाल का वर्णन है । अष्टम पद में संज्ञा का स्वरूप बताया है । नवम पद में विविध योनियों एवं दशम पद में रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों का चरम और अचरम की दृष्टि से विवेचन किया गया है । ग्यारहवें पद में भाषा के स्वरूप के साथ ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक के लक्षणों को बताया गया है । बारहवें पद में औदारिकादि शरीर के सामान्य स्वरूप का वर्णन तथा तेरहवें पद की व्याख्या में जीव और अजीव के विविध परिणामों का प्रतिपादन किया गया है । आगे के पदों की व्याख्या में कषाय, इन्द्रिय, योग, लेश्या, काय-स्थिति, अन्त: क्रिया, अवगाहना, संस्थानादि क्रिया, कर्म प्रकृति, कर्म-बन्ध, आहार-परिणाम, उपयोग, पश्यता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचार, वेदना और समुद्घात का विशेष वर्णन किया गया है । तीसवें पद में उपयोग और पश्यता की भेदरेखा स्पष्ट करते हुए साकार उपयोग के आठ प्रकार और साकार पश्यता के छ: प्रकार बताए गए हैं ।

आचार्य हरिभद्र की स्वतंत्र कृतियाँ

षोडशक - इस कृति में एक-एक विषयों को लेकर १६-१६ पद्यों में आचार्य हरिभद्र ने १६ षोडशकों की रचना की है । ये १६ षोडशक इस प्रकार हैं - (१) धर्मपरीक्षाषोडशक,(२) सद्धर्मदेशनाषोडषक, (३) धर्मलक्षणषोडशक (४)धर्मलिंगषोडशक, (५) लोकोत्तरतत्त्वप्राप्तिषोडशक, (६) जिनमंदिर निर्माणषोडशक, (७) जिनबिम्बषोडशक,(८) प्रतिष्ठाषोडशक, (९) पूजास्वरूपषोडशक, (१०) पूजाफलषोडशक, (११) श्रुतज्ञानलिङ्गषोडशक, (१२) दीक्षाधिकारिषोडशक, (१३) गुरुविनयषोडशक, (१४) योगभेद षोडशक, (१५) ध्येयस्वरूपषोडशक (१६) समरसषोडशक । इनमें अपने-अपने नाम के अनुरूप विषयों की चर्चा है ।

विंशतिविंशिका - विंशतिविंशिका नामक आचार्य हरिभद्र की यह कृति २०-२० प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है । ये विंशिकाएँ निम्नलिखित हैं-प्रथम अधिकार विंशिका में २० विंशिकाओं के विषय का विवेचन किया गया है । द्वितीय विंशिका में लोक के अनादि स्वरूप का विवेचन है । तृतीय विंशिका में कुल, नीति और लोकधर्म का विवेचन है। चतुर्थ विंशिका का विषय चरमपरिवर्त है । पाँचवीं विंशिका में शुद्ध धर्म की उपलब्धि कैसे होती है, इसका विवेचन है । छठी विंशिका में सद्धर्म का एवं सातवीं विंशिका में दान का विवेचन है । आठवीं विंशिका में पूजा-विधान की चर्चा है । नवीं विंशिका में श्रावकधर्म, दशवीं विंशिका में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं एवं ग्यारहवीं विंशिका में मुनिधर्म का विवेचन किया गया है । बारहवीं विंशिका भिक्षा-विंशिका है । इसमे मुनि के भिक्षा-सम्बन्धी दोषों का विवेचन है । तेरहवीं, शिक्षा-विंशिका है । इसमें धार्मिक जीवन के लिये योग्य शिक्षाएँ प्रस्तुत की गई हैं । चौदहवीं अन्तरायशुद्धि-विंशिंका में शिक्षा के सन्दर्भ में होने वाले अन्तरायों का विवेचन है । ज्ञातव्य है कि इस विंशिका में मात्र छ: गाथाएँ ही मिलती हैं, शेष गाथाएँ किसी भी हस्तप्रति में नहीं मिलती हैं । पन्द्रहवीं आलोचना-विंशिका है। सोलहवीं विंशिका प्रायश्चित्त-विंशिका है। इसमें विभिन्न प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त विवेचन है । सत्रहवीं विंशिका योगविधान-विंशिका है। उसमें योग के स्वरूप का विवेचन है । अट्ठारहवीं केवलज्ञान-विंशिका में केवलज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण है । उन्नीसवीं सिद्धविभक्ति-विंशिका में सिद्धों का स्वरूप वर्णित है । बीसवीं सिद्धसुख-विंशिका है जिसमें सिद्धों के सुख का विवेचन है । इस प्रकार इन बीस विंशिकाओं में जैनधर्म और साधना से सम्बन्धित विविध विषयों का विवेचन है ।

योगविंशिका

यह प्राकृत में निबद्ध मात्र २० गाथाओं की एक लघु रचना है । इसमें जैन-परम्परा में प्रचलित मन, वचन और काय-रूप प्रवृत्ति वाली परिभाषा के स्थान पर मोक्ष से जोड़ने वाले धर्म-व्यापार को योग कहा गया है । साथ ही इसमें योग का अधिकारी कौन हो सकता है, इसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी चर्चा की गई है। योगविंशिका में योग के निम्न पाँच भेदों का वर्णन है- (१) स्थान, (२) उर्ण, (३) अर्थ, (४) आलम्बन, (५) अनालम्बन। योग के इन पाँच भेदों का वर्णन इससे पूर्व किसी भी जैन-ग्रन्थ में नहीं मिलता। अत: यह आचार्य की अपनी मौलिक कल्पना है। कृति के अन्त में इच्छा, प्रकृति, स्थिरता और सिद्धि -इन चार योगांगों और कृति, भक्ति, वचन और असङ्ग-इन चार अनुष्ठानों का भी वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें चैत्यवन्दन की क्रिया का भी उल्लेख है।

योगशतक

यह १०१ प्राकृत-गाथाओं में निबद्ध आचार्य हरिभद्र की योग सम्बन्धी रचना है। ग्रंथ के प्रारम्भ में निश्चय और व्यवहार दृष्टि से योग का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसके पश्चात् आध्यात्मिक विकास के उपायों की चर्चा की गई है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में चित्त को स्थिर करने के लिये अपनी वृत्तियों के प्रति सजग होने या उनका अवलोकन करने की बात कही गई है। अन्त में योग से प्राप्त लब्धियों की चर्चा की गई है।

योगदृष्टिसमुच्चय

योगदृष्टिसमुच्चय जैन-योग की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। आचार्य हरिभद्र ने इसे २२७ संस्कृत-पद्यों में निबद्ध किया है। इसमें सर्वप्रथम योग की तीन भूमिकाओं का निर्देश है: (१) दृष्टियोग, (२) इच्छायोग और (३) सामर्थ्ययोग।

दृष्टियोग में सर्वप्रथम मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा- इन आठ दृष्टियों का विस्तृत वर्णन है। संसारी जीव की अचरमावर्तकालीन अवस्था को 'ओघ-दृष्टि' और चरमावर्तकालीन अवस्था को योग-दृष्टियों के प्रसंग में ही जैन-परम्परा सम्मत चौदह गुणस्थानों की भी योजना कर ली है। इसके पश्चात् उन्होंने इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग की चर्चा की है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने योग-अधिकारी के रूप में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी- इन चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया है।

आचार्य हरिभद्र ने इस ग्रन्थ पर १०० पद्य प्रमाण वृत्ति भी लिखी है, जो ११७५ श्लोक परिमाण है।

योगबिन्दु

हरिभद्रसूरि की यह कृति अनुष्टुप छन्द के ५२७ संस्कृत पद्यों में निबद्ध है। इस कृति में उन्होंने जैन-योग के विस्तृत विवेचन के साथ-साथ अन्य परम्परासम्मत योगों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवेचन भी किया है। इसमें योग-अधिकारियों की चर्चा करते हुए उनके दो प्रकार निरूपित किये गए हैं - (१) चरमावृतवृत्ति, (२) अचरमावृत-आवृत वृत्ति। इसमें चरमावृतवृत्ति को ही मोक्ष का अधिकरी माना गया है। योग के अधिकारी-अनधिकारी का निर्देश करते समय मोह में आबद्ध संसारी जीवों को 'भवाभिनन्दी' कहा है और चारित्री जीवों को योग का अधिकारी माना है। योग का प्रभाव, योग की भूमिका के रूप में पूर्वसेवा, पाँच प्रकार के अनुष्ठान, सम्यक्त्व-प्राप्ति का विवेचन, विरति, मोक्ष, आत्मा का स्वरूप, कार्य की सिद्धि में समभाव, कालादि के पाँच कारणों का बलाबल, महेश्वरवादी एवं पुरुषाद्वैतवादी के मतों का निरसन आदि के साथ ही हरिभद्र ने 'गुरु' की विस्तार से व्याख्या की है।

आध्यात्मिक विकास की पाँच भूमिकाओं में से प्रथम चार का पतञ्जलि के अनुसार सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात के रूप में निर्देश, सर्वदेव नमस्कार की उदारवृत्ति के विषय में 'चारिसंजीवनी', न्याय गोपेन्द्रं और कालातीतं के मन्तव्य और कालातीत की अनुपलब्ध कृति में से सात अवतरण, आदि भी इस ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य हैं। पुन: इसमें जीव के भेदों के अन्तर्गत अपुनर्बन्धक सम्यक् दृष्टि या भिन्न ग्रंथी, देशविरति और सर्व-विरति की चर्चा की गई है। योगाधिकार प्राप्ति के सन्दर्भ में पूर्वसेवा के रूप में विविध आचार-विचारों का निरूपण किया गया है।

आध्यात्मिक विकास की चर्चा करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति-संक्षय- इन पाँच भेदों का निर्देश किया गया है। साथ ही इनकी पतञ्जलि-अनुमोदित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि से तुलना भी की गई है। इसमें विविध प्रकार के यौगिक अनुष्ठानों की भी चर्चा है जो इस बात को सूचित करते हैं कि साधक योग-साधना किस उद्देश्य से कर रहा है। यौगिक अनुष्ठान पाँच हैं- (१) विषानुष्ठान, (२) गरानुष्ठान, (३) अनानुष्ठान, (४) तद्धेतु-अनुष्ठान, (५) अमृतानुष्ठान। इनमें पहले तीन 'असद् अनुष्ठान' हैं तथा अन्तिम के दो अनुष्ठान 'सदनुष्ठान' है।

'सद्योगचिन्तामणि' से प्रारम्भ होने वाली इस वृत्ति का श्लोक-परिणाम ३६२० है। योगबिन्दु के स्पष्टीकरण के लिये यह वृत्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

षड्दर्शनसमुच्चय

षड्दर्शनसमुच्चय आचार्य हरिभद्र की लोकविश्रुत दार्शनिक रचना है। मूल कृति मात्र ८७ संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है। इसमें आचार्य हरिभद्र ने चार्वाक, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य, जैन और जैमिनि (मीमांसा दर्शन) इन छ: दर्शनों के सिद्धान्तों का, उनकी मान्यता के अनुसार संक्षेप में विवेचन किया है। ज्ञातव्य है कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में यह एक ऐसी कृति है जो इन भिन्न-भिन्न दर्शनों की खण्डन-मण्डन से ऊपर उठकर अपने यथार्थ स्वरूप में प्रस्तुत करती है। इस कृति के सन्दर्भ में विशेष विवेचन हम हरिभद्र के व्यक्तित्व की चर्चा करते समय कर चुके हैं।

शास्त्रवार्तासमुच्चय

जहाँ षड्दर्शनसमुच्चय में विभिन्न दर्शनों का यथार्थ प्रस्तुतीकरण है, वहाँ शास्त्रवार्तासमुच्चय में विविध भारतीय दर्शनों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा यह एक विस्तृत कृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। आचार्य हरिभद्र ने इसे ७०२ संस्कृत श्लोकों में निबद्ध किया है। यह कृति आठ स्तबकों में विभक्त है। प्रथम स्तबक में सामान्य उपदेश के पश्चात् चार्वाक मत की समीक्षा की गयी है। द्वितीय स्तबक में भी चार्वाक मत की समीक्षा के साथ-साथ एकान्त-स्वभाववादी आदि मतों की समीक्षा की गयी है। इस ग्रन्थ के तीसरे स्तबक में आचार्य हरिभद्र ने ईश्वर-कर्तृत्व की समीक्षा की है। चतुर्थ स्तबक में विशेष रूप से सांख्य मत की और प्रसंगान्तर से बौद्धों के विशेषवाद और क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है। पञ्चम् स्तबक बौद्धों के ही विज्ञानवाद की समीक्षा प्रस्तुत करता है। षष्ठ स्तबक में बौद्धों के क्षणिकवाद की विस्तार से समीक्षा की गयी है। सप्तम स्तबक में हरिभद्र ने वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता और स्याद्वाद की प्रस्थापना की है। साथ ही इस स्तबक के अन्त में वेदान्त की समीक्षा भी की गयी है। अष्टम् स्तबक में मोक्ष एवं मोक्ष-मार्ग का विवेचन है। इसी क्रम में इस स्तबक में प्रसंगान्तर से सर्वज्ञता को सिद्ध किया है। इसके साथ ही इस स्तबक में शब्दार्थ के स्वरूप पर भी विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों की समीक्षा होते हुए भी उनके प्रस्थापकों के प्रति विशेष आदर-भाव प्रस्तुत किया गया है और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का जैन दृष्टि के साथ सुन्दर समन्वय किया गया है। इस सन्दर्भ में हम विशेष चर्चा हरिभद्र के व्यक्तित्व एवं अवदान की चर्चा के प्रसंग में कर चुके हैं, अतः यहाँ इसे हम यहीं विराम देते हैं।

अनेकान्तजयपताका

जैन दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। इस सिद्धान्त के प्रस्तुतीकरण हेतु आचार्य हरिभद्र ने संस्कृत भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की। चूँकि इस ग्रन्थ में अनेकान्तवाद को अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों पर विजय प्राप्त करने वाला दिखाया गया है, अतः इसी आधार पर इसका नामकरण अनेकान्तजयपताका किया गया है। इस ग्रन्थ में छः अधिकार हैं- प्रथम अधिकार में अनेकान्तदृष्टि से वस्तु के सद्-असद् स्वरूप का विवेचन किया गया है। दूसरे अधिकार में वस्तु के नित्यत्व और अनित्यत्व की समीक्षा करते हुए उसे नित्यानित्य बताया गया है। तृतीय अधिकार में वस्तु को सामान्य अथवा विशेष मानने वाले दार्शनिक मतों की समीक्षा करते हुए अन्त में वस्तु को सामन्य-विशेषात्मक सिद्ध करके अनेकान्तदृष्टि की पुष्टि की गयी है। आगे चतुर्थ अधिकार में वस्तु के अभिलाप्य और अनभिलाप्य मतों की समीक्षा करते हुए उसे वाच्यावाच्य निरूपति किया गया है। अगले अधिकारों में बौद्धों के योगाचार-दर्शन की समीक्षा एवं मुक्ति सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा की गयी है। इस प्रकार इस कृति में अनेकान्त दृष्टि से परस्पर विरोधी मतों के मध्य समन्वय स्थापित किया गया है।

अनेकान्तवादप्रवेश

जहाँ अनेकान्तजयपताका प्रबुद्ध दार्शनिकों के समक्ष अनेकान्तवाद के गाम्भीर्य को समीक्षात्मक शैली में प्रस्तुत करने हेतु लिखी गयी है, वहाँ अनेकान्तवादप्रवेश सामान्य व्यक्ति हेतु अनेकान्तवाद को बोधगम्य बनाने के लिये लिखा गया है। यह ग्रन्थ भी संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसकी विषय-वस्तु अनेकान्तजयपताका के समान ही है।

न्यायप्रवेश-टीका

हरिभद्र ने स्वतन्त्र दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणयन के साथ-साथ अन्य परम्परा के दार्शनिक ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखीं हैं। इनमें बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के न्याय-प्रवेश पर उनकी टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में न्याय-सम्बन्धी बौद्ध मन्तव्य को ही स्पष्ट किया गया है। यह ग्रन्थ हरिभद्र की व्यापक और उदार दृष्टि का परिचय देता है। इस ग्रन्थ के माध्यम से जैन-परम्परा में भी बौद्धों के न्याय-सम्बन्धी मन्तव्यों के अध्ययन की परम्परा का विकास हुआ है।

धर्मसंग्रहणी

यह हरिभद्र का दार्शनिक ग्रन्थ है। १२९६ गाथाओं में निबद्ध इस ग्रन्थ में धर्म के स्वरूप का निक्षेपों द्वारा निरूपण किया गया है। मलयगिरि द्वारा इस पर संस्कृत टीका लिखी गयी है। इसमें आत्मा के अनादि-अनिधनत्व,अमूर्त्तत्व, परिणामित्व ज्ञायक-स्वरूप, कर्तृत्व-भोक्तृत्व और सर्वज्ञ-सिद्धि का निरूपण किया गया है।

लोकतत्त्वनिर्णय

लोकतत्त्वनिर्णय में हरिभद्र ने अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है। इस ग्रन्थ में जगत्-सर्जक-संचालक के रूप में माने गए ईश्वरवाद की समीक्षा तथा लोक-स्वरूप की तात्त्विकता का विचार किया गया है। इसमें धर्म के मार्ग पर चलने वाले पात्र एवं अपात्र का विचार करते हुए सुपात्र को ही उपदेश देने के विचार की विवेचना की गयी है।

दर्शनसप्ततिका

इस प्रकरण में सम्यक्त्वयुक्त श्रावकधर्म का १२० गाथाओं में उपदेश संगृहीत है। इस ग्रन्थ पर श्री मानदेवसूरि की टीका है।

ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित इस संस्कृत ग्रन्थ में कुल ४२३ पद्य ही उपलब्ध हैं। आद्य पद में महावीर को नमस्कार कर ब्रह्मादि के स्वरूप को बताने की प्रतिज्ञा की है। इस ग्रन्थ में सर्वधर्मों का समन्वय किया गया है। यह ग्रन्थ अपूर्ण प्रतीत होता है।

सम्बोधप्रकरण

१५९० पद्यों की यह प्राकृत-रचना बारह अधिकारों में विभक्त है। इसमें गुरु, कुगुरु, सम्यक्त्व एवं देव का स्वरूप, श्रावकधर्म और प्रतिमाएँ, व्रत, आलोचना तथा मिथ्यात्व आदि का वर्णन है। इसमें हरिभद्र के युग में जैन-मुनि-संघ में आये हुए चारित्रिक पतन का सजीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्रण है जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं ।

धर्मबिन्दुप्रकरण

५४२ सूत्रों में निबद्ध यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। इसमें श्रावक और श्रमण-धर्म की विवेचना की गयी है । श्रावक बनने के पूर्व जीवन को पवित्र और निर्मल बनाने वाले पूर्व मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों की विवेचना की गयी है । इस पर मुनिचन्द्रसूरि ने टीका लिखी है ।

उपदेशपद

इस ग्रन्थ में कुल १०४० गाथाएँ हैं । इस पर मुनिचन्द्रसूरि ने सुखबोधिनी टीका लिखी है । आचार्य ने धर्मकथानुयोग के माध्यम से इस कृति में मन्द बुद्धि वालों के प्रबोध के लिए जैन धर्म के उपदेशों को सरल लौकिक कथाओं के रूप में संगृहीत किया है । मानव पर्याय की दुर्लभता एवं बुद्धि-चमत्कार को प्रकट करने के लिये कई कथानकों का ग्रन्थन किया है । मनुष्य-जन्म की दुर्लभता को चोल्लक, पाशक, धान्य, घूत, रत्न, स्वपन, चक्रयूप आदि दृष्टान्तों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है ।

पंचवस्तुक (पंचवत्थुग)

आचार्य हरिभद्र की यह कृति प्राकृत भाषा में निबद्ध है । इसमें १७१४ पद्य हैं जो निम्न पाँच अधिकारों में विभक्त हैं-

१. प्रव्रज्याविधि के अन्तर्गत २२८ पद्य हैं । इसमें दीक्षासम्बन्धी विधि-विधान दिये गए हैं ।

२. नित्यक्रिया सम्बन्धी अधिकार में ३८१ पद्य हैं । यह मुनिजीवन के दैनन्दिन प्रत्ययों सम्बन्धी विधि-विधान की चर्चा करता है ।

३. महाव्रतारोपण-विधि के अन्तर्गत ३२१ पद्य हैं । इसमें बड़ी दीक्षा अर्थात् महाव्रतारोपण-विधि का विवेचंन हुआ है, साथ ही इसमें स्थविरकल्प, जिनकल्प और उनसे सम्बन्धित उपधि आदि के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है ।

चतुर्थ अधिकार में ४३४ गाथाएँ है । इनमें आचार्य-पद स्थापना, गण-अनुज्ञा, शिष्यों के अध्ययन आदि सम्बन्धी विधि-विधानों की चर्चा करते हुए पूजा-स्तवन आदि सम्बन्धी विधि-विधानों का निर्देश इसमें मिलता हैं । पञ्चम अधिकार में सल्लेखना सम्बन्धी विधान दिये गए हैं । इसमें ३५० गाथाएँ है ।

इस कृति की ५५० श्लोक-परिमाण शिष्यहिता नामक स्वोपज्ञ टीका भी मिलती है । वस्तुतः यह ग्रन्थ विशेष रूप से जैन-मुनि-आचार से सम्बन्धित है और इस विधा का यह एक आकर-ग्रन्थ भी कहा जा सकता है ।

श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपण्णत्ति)

४०५ प्राकृत-गाथाओं में निबद्ध यह रचना श्रावकाचार के सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र की एक महत्त्वपूर्ण कृति है । ऐसा माना जाता है कि इसके पूर्व आचार्य उमास्वाति ने भी इसी नाम की एक कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध की थी । यद्यपि अनेक ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है, परन्तु इसकी आज तक कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई है । नाम-साम्य के कारण अनेक बार हरिभद्रकृत इस प्राकृत कृति (सावयपण्णत्ति) को तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति की रचना मान लिया जाता है, किन्तु यह एक भ्रान्ति ही है । पञ्चाशक की अभयदेवसूरि कृत वृत्ति में और लावण्यसूरि कृत द्रव्य सप्तति में इसे हरिभद्र की कृति माना गया है । इस कृति में सावग (श्रावक) शब्द का अर्थ, सम्यक्त्व का स्वरूप नवतत्त्व, अष्टकर्म, श्रावक के १२ व्रत और श्रावक समाचारी का विवेचन उपलब्ध होता है ।

इस पर स्वयं आचार्य हरिभद्र की दिग्प्रदा नाम की स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी है । इसमें अहिंसाणुव्रत और सामायिकव्रत की चर्चा करते हुए आचार्य ने अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दिया है । टीका में जीव की नित्यानित्यता आदि दार्शनिक विषयों की भी गम्भीर चर्चा उपलब्ध होती है ।

जैन-आचार सम्बन्धी ग्रन्थों में पञ्चवस्तुक तथा श्रावकप्रज्ञप्ति के अतिरिक्त अष्टकप्रकरण, षोडशकप्रकरण, विंशिकाएँ और पञ्चाशकप्रकरण भी आचार्य हरिभद्र की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं ।

अष्टकप्रकरण

इस ग्रन्थ में ८-८ श्लोकों में रचित निम्नलिखित ३२ प्रकरण हैं -

(१) महादेवाष्टक, (२) स्नानाष्टक, (३) पूजाष्टक, (४) अग्निकारिकाष्टक, (५) त्रिविधभिक्षाष्टक, (६) सर्वसम्पत्करिभिक्षाष्टक,(७) प्रच्छन्नभोजाष्टक, (८) प्रत्याख्यानाष्टक, (९) ज्ञानाष्टक, (१०) वैराग्याष्टक (११) तपाष्टक, (१२) वादाष्टक, (१३) धर्मवादाष्टक, (१४) एकान्तनित्यवादखण्डनाष्टक, (१५) एकान्तक्षणिकवाद-खण्डनाष्टक, (१६) नित्यानित्यवादपक्षमंडनाष्टक, (१७) मांसभक्षण-दूषणाष्टक, (१८) मांसभक्षणमतदूषणाष्टक (१९) मद्यपानदूषणाष्टक (२०) मैथुनदूषाणाष्टक, (२१) सूक्ष्मबुद्धिपरिक्षणाष्टक, (२२) भावशुद्धिविचाराष्टक, (२३) जिनमतमालिन्य निषेधाष्टक, (२४) पुण्यानुबन्धिपुण्याष्टक, (२५) पुण्यानुबन्धिपुण्यफलाष्टक, (२६) तिर्थकृतदानाष्टक, (२७) दानशंकापरिहाराष्टक, (२८) राज्यादिदानदोषपरिहाराष्टक, (२९) सामायिकाष्टक, (३०) केवलज्ञनाष्टक, (३१) तीर्थंकरदेशनाष्टक, (३२) मोक्षस्वरूपाष्टक । इन सभी अष्टकों में अपने नाम के अनुरूप विषयों की चर्चा है।

धूर्ताख्यान

यह एक व्यंग्यप्रधान रचना है । इसमें वैदिक पुराणों में वर्णित असम्भव और अविश्वसनीय बातों का प्रत्याख्यान पाँच धूर्तों की कथाओं के द्वारा किया गया है । लाक्षणिक शैली की यह अद्वितीय रचना है । रामायण, महाभारत और पुराणों में पाई जाने वाली कथाओं की अप्राकृतिक, अवैज्ञानिक, अबौद्धिक मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों का कथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के माध्यम से निराकरण किया गया है। व्यंग्य और सुझावों के माध्यम से असम्भव और मनगढ़न्त बातों को त्यागने का संकेत दिया गया है। खड्डुपना के चरित्र और बौद्धिक विकास द्वारा नारी को विजय दिलाकर मध्यकालीन नारी के चरित्र को उद्घाटित किया गया है।

ध्यानशतकवृत्ति

पूर्व ऋषिप्रणीत ध्यानशतक ग्रन्थ का गम्भीर विषय-आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल- इन चार प्रकार के ध्यानों का सुगम विवरण दिया गया है। ध्यान का यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

यतिदिनकृत्य

इस ग्रन्थ में मुख्यतया साधु के दैनिक आचार एवं क्रियाओं का वर्णन किया गया है। षडावश्यक के विभिन्न आवश्यकों को साधु को अपने दैनिक जीवन में पालन करना चाहिए, इसकी विशद् विवेचना इस ग्रन्थ में की गयी है।

पञ्चाशक (पंचासग)

आचार्य हरिभद्रसूरि की यह कृति जैन महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है। इसमें उन्नीस पञ्चांशक हैं जिसमें दूसरे में ४४ और सत्तरहवें में ५२ तथा शेष में ५०-५० पद्य हैं। वीरगणि के शिष्य श्री चन्द्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने पहले पञ्चाशक पर जैन महाराष्ट्री में वि. सं० ११७२ में एक चूर्णि लिखी थी जिसमें प्रारम्भ में तीन पद्य और अन्त में प्रशस्ति के चार पद्य हैं, शेष ग्रन्थ गद्य में है, जिसमें सम्यक्त्व के प्रकार, उसके यतना, अभियोग और दृष्टान्त के साथ-साथ मनुष्य-भव की दुर्लभता आदि अन्यान्य विषयों का निरूपण किया गया है। सामाचारी विषय का अनेक बार उल्लेख हुआ है। मण्डनात्मक शैली में रचित होने के कारण इसमें 'तुलादण्ड-न्याय' का उल्लेख भी है। आवश्यक चूर्णि के देशविरति में जिस तरह नवपयपयरण में नौ द्वारों का प्रतिपादन है, उसी प्रकार यहाँ पर भी नौ द्वारों का उल्लेख है।

पंचाशकों में जैन-आचार और विधि-विधान के सम्बन्ध में अनेक गम्भीर प्रश्नों को उपस्थित करके उनके समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। निम्न उन्नीस पंचाशक उपलब्ध होते हैं।

१. श्रावकधर्मविधि
२. जिनदीक्षाविधि
३. चैत्यवन्दनविधि
४. पूजाविधि
५. प्रत्याख्यानविधि
६. स्तवनविधि
७. जिनभवननिर्माणविधि
८. जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि
९. यात्राविधि
१०. उपासकप्रतिमाविधि
११. साधुधर्मविधि
१२. साधुसामाचारी विधि
१३. पिण्डविधानविधि
१४. शीलाङ्गविधानविधि
१५. आलोचनाविधि
१६. प्रायश्चित्तविधि
१७. कल्पविधि
१८. भिक्षुप्रतिमाकल्पविधि
१९. तपविधि

उपरोक्त पंचाशक अपने-अपने विषय को गम्भीरता से किन्तु संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। इन सभी पंचाशकों का मूल प्रतिपाद्य श्रावक एवं मुनि-आचार से सम्बन्धित हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि जैन-परम्परा में श्रावक और मुनि के लिए करणीय विधि-विधानों का स्वरूप उस युग में कैसा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी एक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य रहे हैं। उनके द्वारा की गई साहित्य-सेवा न केवल जैन-साहित्य अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। हरिभद्र ने जो उदात्त दृष्टि, असाम्प्रदायिक वृत्ति और निर्भयता अपनी कृतियों में प्रदर्शित की है, वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् ने शायद ही प्रदर्शित की हो। उन्होंने अन्य दर्शनों के विवेचन की एक स्वस्थ परम्परा स्थापित की तथा दार्शनिक और योग-परम्परा में विचार एवं वर्तन की जो अभिनव दशा उद्घाटित की वह विशेषकर आज के युग के असाम्प्रदायिक एवं तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में अधिक व्यवहार्य है।

सन्दर्भ

१. आवश्यक-टीका की अन्तिम प्रशस्ति में उन्होंने लिखा है- "समाप्ता चेयं शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका। कृति: सिताम्बराचार्यजिनभट- निगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलका-चार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी - महत्तरासूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।
२. जाइणिमयहरिआए रइया एएउ धम्मपुत्तेण।
हरिभद्दायरिएणं भवविरहं इच्छामाणेण ॥
-उपदेशपद की अन्तिम प्रशस्ति
३. चिरं जीवउ भवविरहसूरि त्ति। -कहावली, पत्र ३०१अ
४. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पं० सुखलालजी, पृ० ४०
५. षड्दर्शनसमुच्चय, सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ० १४।
६. वही, प्रस्तावना, पृ० १९।
७. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४३।
८. वही, पृ० ४७।
९. षड्दर्शनसमुच्चय, सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ० १४।
१०. वही, पृ० १९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वैतदपि साम्प्रतम् ।
आत्मनोव्यतिरिक्तं तत् चित्रभावं यतो मतम् ॥
शक्तिरूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते ।
अन्ये तु वासनारूपं विचित्रफलदं मतम् ॥
- शास्त्रवार्तासमुच्चय, ९५-९६

१२. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ५३-५४ ।

१३. वही, पृ० ५५ ।

१४. ततश्चेश्वर कर्तृत्त्ववादोऽयं युज्यते परम् ।
सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धतः॥
ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात् ।
यतो मुक्तिस्ततैँस्तस्याः कर्त्ता स्याद्गुणभावतः ॥
तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः ।
तेने तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यानं न दुष्यति ॥
- शास्त्रवार्तासमुच्चय, २०३-२०५

१५. परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मतः आत्मैव चेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥
वही, २०७

१६. प्रकृतिं चापि सन्न्यायात्कर्मप्रकृतिमेव हि ॥
एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि ।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ।
वही, २३२-२३७

१७. अन्ये त्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये ।
क्षणिक सर्वमेवेति बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः ॥
विज्ञानमात्रमप्येवं बाह्यसंगनिवृत्तये ।
विनेयान् कांश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनाऽर्हतः ॥
- वही, ४६४-४६५

१८. अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये ।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः ॥ वही, ५५०

१९. ज्ञानयोगादतो मुक्तिरिति सम्यग् व्यवस्थितम् ।
तन्त्रान्तरानुरोधेन गीतं चेत्थं न दोषकृत् ॥ वही, ५७९

२०. यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ॥ वही, २१.
योगदृष्टिसमुच्चय, ८७ एवं ८८

२२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, २०

२३. योगदृष्टिसमुच्चय, ८६-१०१ ।

२४. वही, १०७-१०९ ।

२५. चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः ।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥ - वही, १३४

२६. यद्वा तत्तन्नायपेक्षा तत्कालादिनियोगतः ।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥ - वही, १३८

२७. मग्गो मग्गो लोए भणंति, सव्वे मग्गणा रहिया ।
-सम्बोधप्रकरण, १/४ पूर्वार्ध

२८. परमप्प मग्गणा जत्थ तम्मग्गो मुक्ख मग्गुति ॥
- वही, १/४ उत्तरार्ध

२९. जत्थ य विसय-कसायच्चागो मग्गो हविज्ज णो अण्णो ।
- वही, १/५ पूर्वार्ध

३०. सेयम्बरो य आसम्बरो य बुद्धो य अहव अण्णो वा ।
समभावभावि अप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो ॥
- वही, १/३

३१. नामाइ चउप्पभेओ भणिओ । - वही, १/५
(व्याख्या लेखक की अपनी है ।)

३२. तक्काइ जोय करणा खोरं पयउं घयं जहा हुज्जा ।
-वही, १/७

३३. भावगयं तं मग्गो तस्स विसुद्धीइ हेउणो भणिया ।
- वही, १/११ पूर्वार्द्ध

३४. तम्मि य पढमे सुद्दे सव्वाणि तयणुसाराणि । - वही, १/१०

३५. वही, १/९९-१०४

३६. वही, १/१०८

३७. वही, २/१०, १३, ३२, ३३, ३४.

३८. वही, २/३४-३६, ४२, ४६, ४९-५० २/५२, ५६-७४ ८८-९२

३९. वही, २/२०

४०. जह असुइ ठाणंपडिया चंपकमाला न कीरते सीसे ।
पासत्थाइठाणे वट्टमाणा इह अपुज्जा ॥ - वही, २/२२

४१. जइ चरिउं नो सक्को सुद्धं जइलिंग महवपूयट्ठी ।
तो गिहिलिंग गिण्हे नो लिंगी पूयणारिहओ ॥
-वही, १/२७५

४२. एयारिसाण दुस्सीलयाण साहुपिसायाण मत्ति पूव्वं ।
जे वंदणनमंसाइ कुव्वंति न महापावा ?
-वही, १/११४

४३. सुहसीलाओ सच्छंदचारिणो वेरिणो सिवपहस्स ।
आणाभट्ठाओ बहुजणाओ मा भणह संवुत्ति ॥
देवाइ दव्वभक्खणतप्परा तह उमग्गपक्खकरा ।
साहु जणाणपओसं कारिणं माभणंह संघं ॥
जहम्म अनीई अणायार सेविणो धम्मनीइं पडिकूला ।
साहुपभिइ चउरो वि बहुया अवि मा भणह संघं ।
असंघं संघ जे भणित रागेण अहव दोसेण ।
छेओ वा मुहुत्तं पच्छित्तं जायए तेसिं ॥
-वही, १/११९-१२१, १२३

४४. गब्भपवेसो वि वरं भद्दवरो नरयवास पासो वि ।
मा जिण आणा लोवकरे वसणं नाम संघे वे ॥
- वही, २/१३२

४५. वही, २/१०३

४६. वही, २/१०४

४७. वेसागिहेसु गमणं जहा निसिद्धं सुकुल बहुयाणं ।
तह हीणायार जइ जण संग सड्ढाण पड़िसिद्धं ॥
परं दिट्ठि विसो सप्पो वरं हलाहलं विसं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हीणायार अगीयत्थ वयणपसंगं खु णो भद्दो ॥

- वही, श्रावक-धर्माधिकार, २,३

४८. वही, २/७७-७८

४९. बाला वंयति एवं वेसो तित्थकराण एसोवि ।
नमणिज्जो धिद्धि अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमों ॥

- वही, २/७६

५०. वरं वाही वरं मच्चू वरं दारिद्दसंगमो ।
वरं अरण्णेवासो य मा कुलीलाण संगमो ॥
हीणायारो वि वरं मा कुसीलएण संगमो भद्दं ।
जम्हा हीणो अप्प नासइ सव्वं हु सील निहिं ॥

- वही, २/१०१-१०२

५१. विस्तार के लिए देखें सम्बोधप्रकरण गुरुस्वरूपाधिकार । इसमें ३७५ गाथाओं में सुगुरु का स्वरूप वर्णित है ।

५२. नो अप्पण पराया गुरुणो कइया वि हुंति सड्ढाणं ।
जिण वयण रयणनिहिणो सव्वे ते वन्निया गुरुणो ॥

-वही, गुरुस्वरूपाधिकरः ३

५३. लोकतत्त्वनिर्णय, ३२-३३

५४. योगदृष्टिसमुच्चय, १२९ ।

५५. जिनरत्नकोश, हरिदामोदर वेलंकर, भंडारकर आरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना १९४४, पृ० १४४

आचार्य हेमचन्द्र : एक युगपुरुष

आचार्य हेमचन्द्र भारतीय मनीषारूपी आकाश के एक देदीप्यमान नक्षत्र हैं। विद्योपासक श्वेताम्बर जैन आचार्यों में बहुविध और विपुल साहित्यस्रष्टा के रूप में आचार्य हरिभद्र के बाद यदि कोई महत्त्वपूर्ण नाम है तो वह आचार्य हेमचन्द्र का ही है। जिस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने विविध भाषाओं में जैन-विद्या की विविध विद्याओं पर विपुल साहित्य का सृजन किया था, उसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने विविध विद्याओं पर विपुल साहित्य का सृजन किया है। आचार्य हेमचन्द्र गुजरात की विद्वत्-परम्परा के प्रतिभाशाली और प्रभावशाली जैन आचार्य हैं। उनके साहित्य में जो बहुविधता है वह उनके व्यक्तित्व एवं उनके ज्ञान की बहुविधता की परिचायिका है। काव्य, छन्द, व्याकरण, कोश, कथा, दर्शन, अध्यात्म और योग-साधना आदि सभी पक्षों को आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी सृजनधर्मिता में समेट लिया है। धर्मसापेक्ष और धर्मनिरपेक्ष दोनों ही प्रकार के साहित्य के सृजन में उनके व्यक्तित्व की समानता का अन्य कोई नहीं मिलता है। जिस मोढ़वणिक जाति ने सम्प्रति युग में गाँधी जैसे महान् व्यक्ति को जन्म दिया उसी मोढ़वणिक जाति ने आचार्य हेमचन्द्र को भी जन्म दिया था।

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात के धन्धुका नगर में श्रेष्ठि चाचिग तथा माता पाहिणी की कुक्षि से ई० सन् १०८८ में हुआ था। जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह माना जाता है कि हेमचन्द्र के पिता शैव और माता जैनधर्म की अनुयायी थीं।[१] आज भी गुजरात की इस मोढ़वणिक जाति में वैष्णव और जैन दोनों धर्मों के अनुयायी पाए जाते हैं। अत: हेमचन्द्र के पिता चाचिग के शैवधर्मावलम्बी और माता पाहिणी के जैनधर्मावलम्बी होने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में ऐसे अनेक परिवार रहे हैं जिनके सदस्य भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी होते थे। सम्भवत: पिता के शैवधर्मावलम्बी और माता के जैनधर्मावलम्बी होने के कारण ही हेमचन्द्र के जीवन में धार्मिक समन्वयशीलता के बीज अधिक विकसित हो सके। दूसरे शब्दों में धर्मसमन्वय की जीवनदृष्टि तो उन्हें अपने पारिवारिक परिवेश से ही मिली थी।

आचार्य देवचन्द्र जो कि आचार्य हेमचन्द्र के दीक्षागुरु थे, स्वयं भी प्रभावशाली आचार्य थे। उन्होंने बालक चंगदेव (हेमचन्द्र के जन्म का नाम) की प्रतिभा को समझ लिया था, इसलिये उन्होंने उनकी माता से उन्हें बाल्यकाल में ही प्राप्त कर लिया। आचार्य हेमचन्द्र को उनकी अल्प बाल्यावस्था में ही गुरु द्वारा दीक्षा प्रदान कर दी गई और विधिवत् रूप से उन्हें धर्म, दर्शन और साहित्य का अध्ययन करवाया गया। वस्तुत: हेमचन्द्र की प्रतिभा और देवचन्द्र के प्रयत्न ने बालक के व्यक्तित्व को एक महनीयता प्रदान की। हेमचन्द्र का व्यक्तित्व भी उनके साहित्य की भाँति बहु-आयामी था। वे कुशल राजनीतिज्ञ, महान् धर्मप्रभावक, लोक-कल्याणकर्ता एवं अप्रतिम विद्वान् सभी कुछ थे। उनके महान् व्यक्तित्व के सभो पक्षों को उजागर कर पाना तो यहाँ सम्भव नहीं है, फिर भी मैं कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न अवश्य करूँगा।

हेमचन्द्र की धार्मिक सहिष्णुता

यह सत्य है कि आचार्य हेमचन्द्र की जैनधर्म के प्रति अनन्य निष्ठा थी किन्तु साथ ही वे अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु भी थे। उन्हें यह गुण अपने परिवार से ही विरासत में मिला था। जैसा कि सामान्य विश्वास है, हेमचन्द्र की माता जैन और पिता शैव थे। एक ही परिवार में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों की उपस्थिति उस परिवार की सहिष्णुवृत्ति की ही परिचायक होती है। आचार्य की इस कुलगत सहिष्णुवृति को जैनधर्म के अनेकान्तवाद की उदार दृष्टि से और अधिक बल मिला। यद्यपि यह सत्य है कि अन्य जैन आचार्यों के समान हेमचन्द्र ने भी 'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका' नामक समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखा और उसमें अन्य दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा भी की। किन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिये कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org